

मास्टर ऑफ आर्ट्स (संस्कृत साहित्य)

एम. ए. (संस्कृत साहित्य)

प्रथम वर्ष

भारतीय दर्शन : एक परिचय

(चतुर्थ प्रश्न पत्र)



दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र
महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय
चित्रकूट, सतना (म.प्र.) - 485334

आरतीय दृश्यन : इक परिचय

संस्करण—2016–17

प्रेरणा एवं मार्गदर्शन :

प्रो. नरेश चन्द्र गौतम

कुलपति

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

लेखक :

डॉ. जितेन्द्र शर्मा

एसो. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.) 485 331

संपादक :

डॉ. प्रज्ञा मिश्रा

एसो. प्रोफेसर, संस्कृत विभाग

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.) 485 331

सम्पर्क सूत्र :

निदेशक, दूरवर्ती शिक्षा

दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

दूरभाष— 07670—265460, ई—मेल— distance.gramodaya@gmail.com, website: www.mgcgvchitrakoot.com

प्रकाशक :

कुलसचिव

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

कापीराइट © : महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट (म.प्र.)

आभार : यह अध्ययन सामग्री संबंधित पाठ्यक्रम और विषय के लिए विशेषज्ञों द्वारा तैयार की गई है। अध्ययन सामग्री को सरल, सुरुचिपूर्ण और बोधगम्य बनाने की दृष्टि से अनेक स्रोतों से प्रेरणा, संदर्भ और सामग्री ली गई है। सभी के प्रति आभार। अध्ययन सामग्री में व्यक्त विचार लेखक के अपने हैं। विश्वविद्यालय का इससे सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

संदेश

महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय की स्थापना मध्यप्रदेश शासन द्वारा एक पृथक अधिनियम से 1991 में सुप्रसिद्ध समाजसेवी पद्मविभूषण नानाजी देशमुख के प्रेरणा और प्रयासों से चित्रकूट में मंदाकिनी के तट पर हुई। विश्वविद्यालय का प्रमुख उद्देश्य ग्रामीण विकास के लिए आवश्यक मानव संसाधन तैयार करना है। विगत 25 वर्षों की समर्पित सेवाओं में विश्वविद्यालय ने ज्ञान—विज्ञान के विविध आयामों पर अपने शिक्षा, शोध, प्रशिक्षण और प्रसार कार्यों से छाप छोड़ी है।



ग्रामीण क्षेत्र में संसाधनों के अभाव तथा सामाजिक—पारिवारिक परिस्थितियों के कारण निरंतरता से अध्ययन करने में बाधायें आती हैं। विश्वविद्यालय ने इस समस्या के समाधान के लिए गुणवत्तायुक्त दूरवर्ती शिक्षा को प्रत्येक ग्रामीण के घर—आँगन तक पहुँचाने का संकल्प लिया है। विश्वविद्यालय का दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत प्रयत्नशील है।

मुझे प्रसन्नता है कि दूरवर्ती शिक्षा के विद्यार्थियों को स्वनिर्देशित अध्ययन सामग्री मुद्रित और व्यवस्थित रूप में पहुँचाये जाने का यह प्रयास न सिर्फ दूरवर्ती शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ायेगा बल्कि छात्रों को गहराई से अध्ययन करने की दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

A handwritten signature in black ink, appearing to read "Narеш Chandra Gautam".

प्रो. नरेश चन्द्र गौतम
कुलपति

भारतीय दर्शन : उक्त परिचय

यूनिट-

प्रथम

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय : विषयवस्तु

यूनिट-

द्वितीय

दार्शनिक साहित्य : उद्भव और विकास

यूनिट-

तृतीय

सर्वदर्शन संग्रह (चार्वाक दर्शन)

इकाई-

चतुर्थ

सर्वदर्शन संग्रह (बौद्ध दर्शन)

भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय : विषयवस्तु

इकाई की स्थिरता

भौमिका :

उद्देश्य :

4.1.1 भारतीय दर्शन-एक परिचय

4.1.2 भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय चार्वाक दर्शन

4.1.3 जैन दर्शन : विषय वस्तु

4.1.4 बौद्ध दर्शन : विषय वस्तु

4.1.5 न्याय दर्शन

4.1.6 वैयेषिक दर्शन

4.1.7 सॉध्य दर्शन एवं योग दर्शन

4.1.8 मीमांसा दर्शन

4.1.9.1 वेदान्त दर्शन

4.1.9.2 रामानुज वेदान्त : विशिष्टाद्वैत दर्शन

सारांश

शब्दावली

सूची प्रश्न

प्रदत्त कार्य

उपयोगी ग्रन्थ

NOTES

आत्मरक्षा की प्रवृत्ति मनुष्य और पशु समाज दोनों की सामान्य विशेषता है। पशुओं का जीवन प्रायः निरुद्देश्य होता है। उनके समस्त क्रियाकलाप और व्यवहार सहज प्रवृत्तियों और संवेगों द्वारा निर्धारित होते हैं। स्पष्ट है कि पशुओं के कार्यव्यवहार में कोई कार्ययोजना नहीं पायी जाती है। वही मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। उसके कार्यव्यवहार प्रवृत्तियों एवं संवेगों द्वारा संचालित नहीं होते हैं। बहुत से कार्यों को चाहते हुये भी वह नहीं करता है और बहुत से ऐसे कत्रव्य/कार्य हैं जिसे न चाहते हुये भी मनुष्य को करने पड़ते हैं। मनुष्य एक बौद्धिक प्राणी है। अपने बुद्धि तत्व के बल पर वह अपना तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर वह उसके अनुसार जीवन-यापन करना चाहता है। वह केवल अपने वत्रमान जीवन को ही सुखमय नहीं बनाना चाहता बल्कि कभी-कभी भविष्य जीवन में दीर्घकालीन सुख प्राप्ति हेतु वत्रमान के क्षणिक सुख का परित्याग भी कर देता है। मनुष्य जीवन की यह सम्पूर्ण कार्ययोजना और व्यवहार उसकी बुद्धि द्वारा ही संचालित या निर्णीत होते हैं। स्पष्ट है बुद्धि की सहायता से वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। युक्तिपूर्वक तत्व ज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही दर्शन कहा जाता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन में दर्शन शब्द के लिये पृथक-पृथक शब्दों का प्रयोग किया गया है और उसके निहितार्थ भी अलग-अलग है। पाश्चात्य दर्शन में 'दर्शन' शब्द के लिये 'Philosophy' शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'फिलासफी' शब्द दो ग्रीक शब्दों φαइलास (Philos) और σοφिया (Sophia) शब्द से बना है। फाइलास का अर्थ अवराग और सोफिया का अर्थ ज्ञान है। इस प्रकार फिलासफी का अर्थ ज्ञान के प्रति अनुराग है। इस व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि पाश्चात्य जगत के लिये फिलासफी एक बौद्धिक व्यायाम या विलास की वस्तु है। उसका जीवन से कोई घनिष्ठ सम्बंध नहीं है। यद्यपि पाश्चात्य दर्शन में कुछ ऐसे दार्शनिक अवश्य हुये हैं जिन्होंने 'फिलासफी' को व्यावहारिक जीवन से सम्बद्ध करने की चेष्टा की

है परन्तु अधिकांश दार्शनिकों के लिये 'फिलासफी' एक बौद्धिक विलास की ही वस्तु रही है।

भारतीय दर्शन में दर्शन, बौद्धिक विलास का माध्यम न होकर दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने का साधन है। परिणामस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। ईशावास्योपनिषद में वर्णित है-

हिरण्मयेन पत्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्

तत्वम् पूषण अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥”

अर्थात् अदित्यमण्ड-स्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका है। हे पूषन्! मुझ सत्यधर्म को आत्म की उपलब्धि कराने के लिये तू उसे उघाड़ दे, अर्थात् उस पात्र को सामने से हटा दे। स्पष्ट है कि दर्शन का मुख्य कार्य सत्य के स्वरूप का अनावरण करना है। परम सत्य या परम तत्व भारतीय दर्शन में एकमात्र ब्रह्म या आत्मा को माना गया है। आत्मदर्शन या ब्रह्म दर्शन का एकमात्र फल है : अमरत्व की प्राप्ति-'विद्यायामृतमश्नुते'।

उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में हम आपके समक्ष भारतीय दर्शन का पिरचयात्मक खाका प्रस्तुत कर रहे हैं। भारतीय दर्शन को आस्तिक और नास्तिक इन दो सम्प्रदायों में मुख्य रूप से विभाजित किया जा सकता है। विभाजन का यह आधाद वेदों की प्रामाणिकता मानने या न मानने के संदर्भ में है। जो दर्शन वेदों को प्रमाण नहीं मानते, वेदों की निन्दा करते हैं वे नास्तिक संवर्ग में आते हैं और जो दर्शन वेदों को प्रमाण मानते हैं। उनको श्रद्धा या आदर का विषय मानते हैं वे आस्तिक कहलाते हैं। न्याय, वैशेषिक, सौख्य योग, मीमांसा और वेदान्त आस्तिक दर्शनों की कोटि में आते हैं। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य पाठ्कों को भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों की परिचयात्मक जानकारी प्रदान करना है। इस इकाई को पढ़कर आप भारतीय दर्शन के आस्तिक एवं नास्तिक सम्प्रदायों की मान्यताओं और विशेषताओं से अवगत हो सकेंगे।

4.1.1 भारतीय दर्शन : एक परिचय

NOTES

भारतीय दर्शन का एक समन्वयात्मक स्वरूप पाठकों के समक्ष प्रस्तुत हो सके, इस हेतु भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषताओं से पाठकों को अवगत कराना अनिवार्य है। इस तथ्य को लक्ष्यगत रखते हुये यहाँ पर भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है-

प्रायः समस्त भारतीय दर्शन को तत्व साक्षात्कार या मोक्ष का माध्यम माना गया है। चार्वाक दर्शन को छोड़कर लगभग सभी भारतीय दर्शनों का उद्देश्य दर्शन के माध्यम से तत्व साक्षात्कार करना है। अतः जीवन के लक्ष्य को समझने के लिये दर्शन का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। दर्शन का उद्देश्य केवल मानसिक कौतुहल की निवृत्ति नहीं है बल्कि किस प्रकार मनुष्य दूर दृष्टि, भविष्य दृष्टि तथा अन्तर्दृष्टि के साथ जीवन यापन कर सके-इसी की शिक्षा देना है।

प्रायः समस्त भारतीय दर्शनिक इस बात पर एकमत है कि आध्यात्मिक असंतोष से ही दर्शन की उत्पत्ति होती है। भौतिक भोगों तथा आकर्षणों से युक्त यह चाक्रिचिक्य पूर्ण जगत नश्वर और दुःखमय है। जीवन में निःसदिह थोड़े, बहुत सुख भी हैं परन्तु एक तो वे क्षणिक हैं दूसरे प्रत्येक सुख के साथ यह दुश्चिंता हमेशा बनी रहती है कि वे कभी भी और किसी भी समय समाप्त हो सकते हैं। इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा है कि सम्पूर्ण संचार दुःखमय और आनात्मस्वरूप है। मनुष्य के दुःखों का मूल कारण क्या है इसे जानने के लिए भारत के सभी दर्शन प्रयत्न करते हैं। दुःखों का किस तरह से नाश हो-इसके लिये सभी दर्शन संसार तथा मनुष्य के अन्तर्निहित तत्वों का अनुसंधान करते हैं।

भारतीयों में एक आध्यात्मिक मनोवृत्ति है जिससे वे सर्वथा निराश नहीं होते वरन् इसके कारण उनमें आशा का संचार होता रहता है इसे हम अध्यात्मवाद कह सकते हैं। अध्यात्मवाद अर्थात् वहविचारधारा जो यह विश्वास दिलाती है कि जगत में एक शाश्वत् नैतिक व्यवस्था है जो नैतिक नियमों के अनुकूल जगत का संचालन पालन और पोषण करती है।

भारत के सभी आस्तिक और नास्तिक दर्शन (चार्वाक को छोड़कर) कर्मवाद में विश्वास करते हैं। कर्मवाद की मान्यता के अनुसार प्रत्येक जीव को स्वयं द्वारा किये गये अच्छे और बुरे कर्मों का फल स्वयं ही भोगना पड़ता है। साथ ही बिना किये हुये (अकृत) कर्मों का फल नहीं मिलता और न ही किये गये कर्मों का फल कभी नष्ट होता है। इस कर्म और कर्मफल का सम्बंध वत्रमान, भूत और भविष्य तीनों कालों में प्राख्यध, संचित और क्रियमाण कर्म के रूप में अवश्यमेव प्राप्त होता है।

भारतीय दर्शन का एक और सामान्य धर्म है जिसका कर्मवाद के साथ गहरा सम्बंध है। इसके अनुसार संसार मानो एक रंगमंच है जिसमें मनुष्य को कर्म करने का अवसर मिलता है जिस तरह रंगमंच पर नाटक के पात्र सज-धजकर आते हैं और पात्रभेद के अनुसार नाट्य करते हैं इसी तरह मनुष्य इस संसार के रंगमंच पर शरीर इन्द्रिय आदि उपकरणों से सज्जित होकर आता है तथा योग्यतानुसार अपना कर्म करता है। मनुष्य से आशा की जाती है कि वह अपना कर्म नैतिक ढंग से करे जिससे उसका वत्रमान तथा भविष्य सुखमय हो शरीर, ज्ञानेन्द्रय और बाह्य परिस्थिति आदि विषय ईश्वर से अथवा प्रकृति से तो मिलते हैं किन्तु उनकी प्राप्ति पूर्वाजित कर्म के अनुसार ही होती है।

प्रायः समस्त भारतीय दर्शन इस बात पर ही एकमत है कि अज्ञान ही हमारे समस्त दुःखों (बंधन) का मूल कारण है। जीव, जगत और जागतिक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप-अनित्य, अनात्म, दुःखमय के बारे में अज्ञानता के कारण ही जीव उन्हें नित्य, आत्मस्वरूप और सुखमय समझकर व्यवहार करने लगता है परिणाम स्वरूप कर्म और फलभोग के अकाट्य बंधन में बँधकर जन्म-पुनर्जन्म ग्रहण करता रहता है। इस अज्ञानजन्य बन्धन का नाश ज्ञान से ही हो सकता है। इसलिये कहा गया है कि ‘गरते ज्ञानान्मुक्तिः’ ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं।

चार्वाक के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय दर्शनों ने मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। किन्तु भिन्न-भिन्न दर्शनों में मोक्ष के भिन्न-भिन्न अर्थ हैं। यह तो सभी स्वीकार करते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति से जीवन के दुःखों का नाश हो जाता है किन्तु कुछ दर्शनों के अनुसार मोक्ष से केवल दुःखों का नाश

ही नहीं होता वरन् आनन्द की भी प्राप्ति होती है। बौद्ध, जैन आदि मतों के अनुसार मोक्ष से आनन्द की प्राप्ति होती है।

4.1.2 भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय-चार्वाक दर्शन

अवैदिक दर्शनों में प्रथम चार्वाक का नाम लिया जाता है। यह एक भौतिकवादी दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार जड़ तत्व या भौतिक तत्व की ही अन्तिम सत्ता है।

जहाँ तक चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा का प्रश्न है, चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अलावा, अनुमान उपमान एवं शब्द प्रमाण की कोई सत्ता नहीं है। चार्वाक के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है। इसके अनुसार केवल इन्द्रियों द्वारा ही विश्वासयोग्य ज्ञान प्राप्त हो सकता है। पंच ज्ञानेन्द्रियों से परे प्रमाण की कोई सीमा नहीं है। अनुमान प्रमाण चूंकि व्याप्ति पर आधारित होता है और व्याप्ति की स्थापना प्रत्यक्ष से नहीं हो सकती है। अतः अनुमान सहित शब्द प्रमाण अमान्य है। प्रत्यक्ष से परे (इन्द्रियातीत) विषयों-ईश्वर, आत्मा, मोक्ष स्वर्ग आदि का कोई अस्तित्व नहीं है।

तवमीमांसा का ज्ञानमीमांसा के साथ बड़ा गहरा सम्बंध होता है। चूंकि चार्वाक प्रत्यय को ही प्रमाण मानते हैं अतः जिन विषयों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता जैसे ईश्वर, आत्म, मोक्ष, परलोक आदि उसके अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार का निर्माण जड़ परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से हुआ है। परमाणु चार प्रकार के हैं-वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी। चार्वाक आकाश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। सृष्टि के लिये किसी चैतन सृष्टिकर्ता (ईश्वर) के अस्तित्व को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। परमाणुओं का ऐसा स्वभाव ही है। परमाणुओं की इसी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप जगत् तथा जागतिक वस्तुओं की उत्पत्ति होती रहती है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न पैदा होता है कि यदि जड़ की ही एकमात्र सत्ता है तो फिर हम चैतन्य की व्यवस्था कैसे करेंगे? विविध प्राणियों में दिखलाई पड़ने वाली चैतन्य की व्याख्या कैसे की जा सकेगी? चार्वाक उत्तर देते हुये कहते हैं-

जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।

ताम्बूल पूगचूर्णानां योगाद्राग इवोत्थितम्॥

जड़ पदार्थों के विकास से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान, सुपाड़ी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखने से उसमें नये-नये गुणों का आविर्भाव होता रहता है। मुड़ में मादकता का अभाव हि किन्तु गुण के सड़ जाने पर वह मादक हो जाता है। इसी प्रकार जड़ तत्वों का भी मिजूण यदि एक विशेष देश से हो तो शरीर की उत्पत्ति होती है और उसमें एक नये गुण चैतन्य का आविर्भाव होता है। शरीर से भिन्न आत्मा के कोई प्रमाण नहीं। “चैतन्य विशिष्टो देय एव आत्मा”। मृत्यु के बाद शरीर नष्ट हो जाता है और उसे ही जीवन का अंत समझना चाहिये। पूर्वजीवन, भविष्य जीवन, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, कर्मयोग-ये सभी विश्वास निराधार हैं। चार्वाक स्थायी, अजर अमर आत्मा के सिद्धांत को भी अस्वीकार करते हैं। शरीर से पृथक्-चेतन आत्मा नाम की कोई सत्ता नहीं है। वस्तुतः चेतन शरीर को ही आत्मा कहना चाहिये। “चैतन्य विशिष्टो देह एव आत्मा”।

इसी तरह चार्वाक ईश्वर के अस्तित्व को भी नकार जाते हैं। चार्वाकों के अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भौतिक पदार्थ संसार की उत्पत्ति हेतु उपादान कारण के रूप में हैं परन्तु इसके लिये निमित्त कारण के रूप में किसी सृष्टि की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः जड़ तत्वों का स्वयं अपना-अपना स्वभाव है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार वे संयुक्त होते हैं। और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है। संसार जड़तत्वों का आकस्मिक संयोग है।

जहाँ तक चार्वाक के नैतिक विचारों का प्रश्न है वत्रमानकाल तथा वत्रमान जीवन को ही मानने के कारण चार्वाक वत्रमान जीवन में अधिकाधिक इन्द्रिय सुख प्रप्ति को जीवन का परम पुरुषार्थ मानने के साथ स्वर्ग, मोक्षद्व वैदिक क्रिया-कर्म आदि सभी का खण्डन करते हैं।

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।

मस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुटः॥

NOTES

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्

बुद्धिपौरुष हीनानां जीविका धात्रनिर्मिताः।

पभुश्चेन्निहतः स्वर्ग ज्योतिष्टोमे शमिष्यति।

स्वापिता यजमानने तंत्र कस्मान्नहिंस्यते।

अग्निहोत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाना-ये बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीवका के साधन हैं जिन्हें ब्रह्म ने बनाया है। यदि ज्योतिष्येम यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जायेगा तो उस जगह पर यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता।

स्वर्ग में स्थित (पितृगण) यदि यहाँ दान कर देने से तृप्त हो जाते हैं तो महल के ऊपर (कोठे पर) बैठे हुये लोगों को यहीं पर क्यों नहीं दे देते हैं।

(यदि आत्मा शरीर से पृथक् है और) शरीर से निकलकर दूसरे लोग में जाता है तब बन्धुओं के प्रेम से व्याकुल होकर लौट क्यों नहीं जाता?

वेद के रचयिता तीन हैं-भाँड़, धूत्र (ठग) और राक्षस। जर्मरी, तुर्फरी आदि पष्ठितों की वाणी समझी जाती है। इसमें (अश्वमेघ में) धोड़े के लिंग को पत्नी द्वारा ग्रहण कराने का विधान है-यह सब ग्रहण करने का विधान भाँड़ों का कहा हुआ है।

4.1.3 जैन दर्शन-विषय वस्तु

महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित जैन दर्शन नास्तिक दर्शनों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जैन आचार-सहिता तो विश्वदर्शन साहित्य की अमूल्य निधि है। जैन मत के प्रवत्रक तीर्थकर कहलाते हैं। ऋषभदेव इस परम्परा के प्रथम तीर्थकर माने जाते हैं। तथा महावीर 24वें एवं अन्तिम तीर्थकर के रूप में समावृत हैं।

प्रमाण मीमांसा : जहाँ तक जैन दर्शन की प्रमाण मीमांसा का प्रश्न है-जैन दार्शनिक प्रत्यक्षद्व अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणों की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। जैनियों के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति निम्न क्रम में होती है-सबसे पहले इन्द्रिय संवेदन होता है। जैसे-मान लीजिये हम कोई ध्वनि सुनते हैं। प्रारम्भ

में यह ज्ञात नहीं होता है कि यह ध्वनि किसकी है? इस अवस्था को अवगृह कहते हैं। अवग्रह में केवल विषय का ग्रहण होता है। तब मन में एक प्रश्न उठता है कि यह ध्वनि किस वस्तु की है? इस अवस्था को 'ईहा' कहते हैं। इसके बाद एक निश्चयात्मक ज्ञान होता है कि यह ध्वनि अमुक वस्तु की है। इसे अवाम कहते हैं। 'आवाय' का अर्थ निश्चय है। इस तरह जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका मन में धारण होता है। इसको 'धारण' कहते हैं।

तत्त्वमीमांसा : चार्वाक की तरह जैन दार्शनिक भी मानते हैं कि भौतिक द्रव्य चार प्रकार के तत्वों के मिश्रण से बनते हैं इस तत्वों के अतिरिक्त अनुमान के द्वारा आकाश, काल, धर्म तथा अर्धर्म का ज्ञान होता है। भौतिक द्रव्यों की स्थिति के लिये स्थान आवश्यक है। जीव, प्रदूषगल, धर्म तथा अर्धर्म आकाश में ही स्थित हैं। द्रव्यों की व्यायिक विस्तार स्थान के कारण ही हो सकता है। यह स्थान ही आकाश है। द्रव्यों की अवस्थाओं का क्रमिक परिवर्तन काल के बिना नहीं हो सकता। काल न हो तो वत्रना, परिणाम, क्रिया, नवीनता, प्राचीनता आदि कुछ भी संभव नहीं है। धर्म तथा अर्धर्म क्रमशः गति तथा स्थिति के कारण हैं जहाँ पर भी हमें गति दिखलाई पड़ती है उसका कारण धर्म ही है। लेकिन यहाँ पर उल्लेखनीय है कि धर्म केवल गतिशील द्रव्यों की गति में ही सहायक हो सकता है स्थिर द्रव्यों को यह गति नहीं दे सकता। भौतिक द्रव्य (पुद्मल) आकाश, काल, धर्म तथा अर्धर्म के अतिरिक्त और भी एक प्रकार का द्रव्य है। प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा प्रमाणित है कि प्रत्येक सजीव द्रव्य में एक चेतन वस्तु या जीव है वह है जीव या आत्मा। चैतन्य की उत्पत्ति जड़ पदार्थ से नहीं हो सकती। ऐसा कोई उदाहरण नहीं है कि जड़ पदार्थों के संयोग से चैतन्य का प्रादुर्भाव हुआ है।

जितने भी सजीव शरीर है उतने ही जीव है। जैनों के अनुसार केवल मनुष्य तथा वम्र-पक्षियों में ही जीवन नहीं है वरं पेड़-पौधों तथा धूलिकणों में भी जीवन पाया जाता है। सभी जीव सब प्रकार से चेतन नहीं है। वनस्पतियों तथा मिट्टी के टुकड़ों में जो जीव होता है। अतः उनको केवल स्पर्श बोध होता है। कुछ निम्न श्रेणी के जीवों में दो इन्द्रियाँ होती हैं। कुछ को तीन तथा चार इन्द्रिय भी होती हैं। मनुष्य तथा उच्च वर्ग के जन्तुओं को पाँच इन्द्रिय होती हैं। इन्हीं

इन्द्रिय कितना भी समृद्ध क्यों न हो, शरीर बंधन में फंसे हुये जीव का ज्ञान सीमित ही होगा।

प्रत्येक जीव में अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत वीर्य तथा अनंत सुख पाने की शक्ति है। ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। जीव की अपनी इच्छायें काम, क्रोध, लोभ, मान, माया, मोह तथा कर्म पुद्गल को अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसका फल यह होता है कि जिस तरह किसी दीपक या सूर्य का प्रकार धूलिकणों से आच्छादित हो जाता है उसी तरह जीव का स्वरूप पुद्गल के सम्पर्क से छिप जाता है।

जीव का पुद्गल से सम्बंध विच्छेद ही मोक्ष है। परन्तु यह स्थिति कैसे प्राप्त होगी? उत्तर में जैन दार्शनिक कहते हैं-“सम्यक् दर्शन, ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्याः।” जैन तीर्थकरों के उपदेशों के प्रति श्रद्धा भाव होना ही सम्यक् दर्शन है। तीर्थकरों के उपदेशों का यथार्थ बोध ही सम्यक् ज्ञान है। दैनिक व्यावहारिक जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन ही सम्यक् चरित्र है।

मोक्ष प्राप्त होने पर जीव की क्या स्थिति होती है जैन दार्शनिक कहते हैं कि मोक्ष प्राप्त कर लेने पर जीव अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान तथा अनंत शक्ति और अनंत आनन्द से युक्त हो जाता है। मुक्ति का वर्णन निम्न श्लोक के माध्यम से जैन दर्शन में किया गया है-

लब्धानन्तचतुष्कस्य लोकागूढस्य चात्मनः।

क्षीणाष्टकर्मणों मुक्तिर्निव्यावृत्ति र्जिनोदिता।

जिस चार अनंत पदार्थ - (ज्ञान, दर्शन, वीर्य तथा सुख) मिल चुके हैं। जो संसार में बँधा हुआ नहीं है (अगूढ़ तथा) तथा जिसके आठों कर्म नष्ट हो चुके हैं उस आत्मा को जिन भगवान की कहीं हुई निर्वावृत्ति-जहाँ से फिर लौटना नहीं, मुक्ति मिलती है।

4.1.4 बौद्ध दर्शन-विषय वस्तु

बौद्ध दर्शन के पूर्वक महात्मा बुद्ध थे। वर्षों की अखण्ड साधना के परिणाम स्वरूप उन्हें बोधि या ज्ञान प्राप्त हुआ जिसका सार उनके चार आर्यसत्यों में पाया जाता है- 1. दुःख है, 2. दुःख का कारण है, 3. दुःख का निरोध है, 4. दुःख निरोध का मार्ग है।

सम्पूर्ण संसार दुःखमय तथा अनात्मस्वरूप है। यदि किसी व्यक्ति को किसी भी प्रकार का दुःख नहीं मिलता है वो भी जन्म और मृत्यु सहित बृद्धावस्था के दुःख को सबको भोगना पड़ता है। सुखों के साथ हमेशा यह चिंता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जाय। यह दुश्चिंता भी एक प्रकार का दुःख ही है। इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण संसार दुःखात्मक है।

प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है। जीवन में प्राप्त होने वाले दुःखों के कारण के रूप में बुद्धदेव ने 12 कारण बतलायें हैं जिन्हें भवचक्र, संसारचक्र या दृष्टदश निदान कहा जाता है। सभी कारणों के मूल में अविद्या या अज्ञानता ही प्रधान होती है। इसी अज्ञानता के कारण तृष्णा पैदा होती है। और यह तृष्णा ही है जो हमें विविध विचारों के भोग हेतु आकर्षित करती है। यदि हमें विषयों का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय और यदि हम समझें कि वे कितने क्षणिक और दुःखद हैं तो उनके प्रति हमारी तृष्णा ही न जगे।

तीसरे आर्यसत्य की व्याख्या का जहाँ तक प्रश्न है तो दुःख के कारणों का यदि अंत हो जाय तो दुःख स्वतः समाप्त हो जायेगा।

चतुर्थ आर्यसत्य में दुःख दूर करने के उपायों का वर्णन है। इस अष्टांगिक मार्ग भी कहा जाता है। 1. सम्यक् दृष्टि, 2. सम्यक् संकल्प, 3. सम्यक् व्यायाम, 4. सम्यक् कर्मान्त, 5. सम्यक् आजीव, 6. सम्यक् व्यायाम, 7. सम्यक् स्मृति, 8. सम्यक् समाधि। ये आठ साधन अविद्या तथा तृष्णा को दूर करते हैं। इस प्रकार दुःख का पूर्ण विनाश होता है और पुनर्जन्म की सम्भावना सदा-सर्वदा के लिये समाप्त हो जाती है। इसी अवस्था को निर्वाण कहा जाता है।

यद्यपि महात्मा बुद्ध तत्त्व मीमांसीय प्रश्नों का समाधान नहीं करते थे। उनका स्पष्ट मानना था कि जब तक मनुष्य दुःखी है-तब तक दुःख से मुक्ति पाने के उपाय को छोड़कर किसी अन्य प्रश्नों या समस्या के समाधान हेतु समय नष्ट करना मूर्खता है। लेकिन शुष्क तर्क से दूर रहते हुये भी वे दार्शनिक विचार से अलग नहीं रहै। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि महात्मा बुद्ध ने निम्न दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन किया था-

1. सभी विषयों का कारण है।

2. सभी वस्तुयें परिवत्रनशील हैं। ज्यो-ज्यों उनके कारणों में परिवत्रन आता जाता है त्यों-त्यों उन वस्तुओं में भी परिवत्रन होता जाता है। कुछ भी नित्य नहीं है।

3. अतः इन परिवत्रनशील धर्मों के अतिरिक्त किसी द्रव्य के अस्तित्व का प्रमाण नहीं।

4. किन्तु वत्रमान जीवन का क्रम चलता रहता है। वत्रमान जीवन से कार्य अनुसार आगामी जीवन की उत्पत्ति होती है।

कालान्तर में महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के उपरान्त सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन सत्ता और ज्ञान सम्बंधी प्रश्न को लेकर चार प्रमुख विभागों में विभक्त हो गया।

1. माध्यमिक या शून्यवाद : इस मत के पूवत्रक नागार्जुन थे। इस मत के अनुसार यह संसार शून्य है। वास्य तथा अन्तर सभी विषय असत् हैं। इसलिये इस मत को शून्यवाद कहा जाता है। प्रत्यक्ष जगत के परे पारमार्मिक सत्ता अवश्य है लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके सम्बंध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह मानसिक है या बाह्य। लौकिक विचारों द्वारा अवर्णनीय होने के कारण उसे शून्य कहते हैं।

2. योगाचार या विज्ञानवाद : इस मत के अनुसार सभी बाह्य पदार्थ असत्य हैं जो वस्तु बाह्य दीख पड़ती है वह चित्त की एक प्रतीति मात्र है। विज्ञान के प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। हमारे शरीर तथा अन्यान्य पदार्थ जो मन के बहिर्गत मालुम पड़ते हैं वे सभी हमारे मन के अन्तर्गत हैं।

3. सौतान्त्रिक मत : इस मत के अनुसार चित्त और बाह्य जगत दोनों की सत्ता है। अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर दोनों सत्य हैं। जितनी वस्तुयें बाह्य प्रतीत होती है वे यदि असत्य हो तो किसी भी वस्तु को देखने के लिये हमें बाह्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करनी पड़ती बल्कि मन ही उसके लिये पर्याप्त होता। किन्तु अपनी इच्छानुसार मन किसी वस्तु का अवलोकन नहीं कर सकता। हम जहाँ कहीं जिस समय में बाह्य को देखना चाहें तो संभव नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि बाह्य को देखने के समय हमारे मन में जो बाह्य की एक प्रतीति है वह कल्पित नहीं है वर उसका अस्तित्व बहिः स्थित (किसी

विषय) पर निर्भर करता है। वाह्य वस्तु का ज्ञान वस्तु-जनित मानसिक आकारों से अनुमान के द्वारा प्राप्त होता है। अतः इस मत को वाह्यानुमेयवाद भी कहा जाता है।

वैभाषिक या वाह्यप्रत्यक्षवाद :

इस मत के अनुसार वाह्य तथा मानसिक जगत दोनों सत्य हैं। जहाँ तक वाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त करने की बात है, वाह्य जगत का ज्ञान हमें प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त होता है। वाह्य वस्तुओं का ज्ञान हमें मानसिक चित्रों या प्रतिरूपों के द्वारा अनुमान से नहीं होता। यदि कभी किसी वाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान न हुआ हो तो यह कभी संभव नहीं है कि मानसिक प्रतिरूपों के द्वारा हमें उनका आनुमानिक ज्ञान हो सके।

मूल बौद्ध दर्शन में प्रसिद्ध है कि बारह आयतनों (अन्तःस्थानों) की पूजा मोक्ष देने वाली है। “द्वादशायतनपूजा श्रेयस्करीति बौद्ध नये प्रसिद्धम्” बहुत सा धन उपार्जित करके हमें द्वादश आयतनों की पूजा करती चाहिये। यहाँ दूसरी पूजाओं से क्या लाभ है? विद्वानों ने कहा है कि पंच ज्ञानेन्द्रियाँ-(त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा और नासिका) पाँच कर्मेन्द्रियाँ-(हाथ, मुँह, पैर, जननेन्द्रिय तथा मुदा) मन और बुद्धि-ये ही द्वादश आयतन हैं इनसे सम्यक् कर्म करना चाहिये।

4.1.5 न्याय दर्शन-विषय वस्तु

न्याय दर्शन के प्रवत्रक महर्षि गौतम हैं। इन्हें अक्षपाद भी कहा जाता है। इसलिये इस दर्शन का नाम अक्षपाद दर्शन भी है। इस दर्शन में प्रमाणों पर विशेष जोर दिया गया है। इसी बात को दृष्टिगत करते रहे महर्षि वात्स्यायन न्याय दर्शन को परिभाषित करते हुये कहते हैं—“प्रमाणरथैपरीक्षणं न्यायः।” प्रमाणों के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करना ही न्याय है।

इस दर्शन में चार प्रमाणों को मान्यता दी गयी है-प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द “इन्द्रियार्थं सन्निकर्षं यथार्थं ज्ञानं प्रत्यक्षं”। ज्ञानेन्द्रिय तथा वाह्य वस्तु इन दोनों के संयोग से जिस यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे प्रत्यक्ष कहा

जाता है। अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं जो किसी पूर्व ज्ञान के पश्चात् आता है। अनुमान उस विचार प्रणाली को कहते हैं जिसमें हम किसी लिंग के द्वारा किसी अन्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं क्योंकि उन दोनों में व्याप्ति का सम्बंध पाया जाता है। जहाँ तक अनुमान के अवयवों का प्रश्न है अनुमान में कम से कम तीन वाक्य और अधिक से अधिक तीन पद होते हैं। जैसे-पर्वत धूंआ है।

धूंआ तथा आग में व्याप्ति है।
अतः पर्वत में आग है।

इस उदारण में पर्वत पक्ष है। पक्ष अनुमान का अंग है जिसके सम्बंध में अनुमान किया जाता है। यहाँ पर्वत के सम्बंध में ही यह अनुमान किया जाता है कि उसमें अग्नि है या नहीं साध्य उसे कहते हैं जो पक्ष के सम्बंध में सिद्ध किया जाता है। यहाँ अग्नि साध्य है क्योंकि अनुमान के द्वारा पर्वत के सम्बंध में यही सिद्ध करना रहता है कि उसमें आग है। यहाँ धूंआ हेतु है। हेतु उसे कहते हैं जिसके द्वारा पक्ष के सम्बंध में साध्य सिद्ध किया जाता है। उपमान में संज्ञा तभी संज्ञी के सम्बंध का ज्ञान होता है। सादृश्य ज्ञान के द्वारा जो संज्ञा-संज्ञी अथवा नाम और नामी का सम्बंध स्थापित होता है उसे उपमान कहते हैं। जैसे यदि गवय का केवल नाम रहे तथा यह विदित रहे कि गवय का आकार प्रकार गाय के सादृश होता है तो गवय को प्रथम बार भी देखकर समझा जा सकता है कि यह गवय है। ऐसा ज्ञान उपमान के द्वारा होता है।

यथार्थ वक्ता (आप्त) के द्वारा उच्चरित वाक्य ही शब्द है जैसे वेद के वाक्य या भूगोल में कहे गये वाक्य। न्यायसूत्र में शब्द के दो भेद किये गये हैं-दृष्टार्थ शब्द और अदृष्टार्थ शब्द। जब आप्त वाक्य की संगति इस संसार के तथ्यों से बैठाई जा सके, जैसे यह कहना कि साइबेरिया में बर्फ जमी हुई रहती है तब उसे दुष्टार्थ कहते हैं। किन्तु आप्त वाक्यों से परलोक की बातों का ज्ञान होने पर उसे अदृष्टार्थ शब्द कहते हैं। इस प्रकार लौकिक वाक्यों और ऋषि के वाक्यों में भेद किया जा सकता है। इसे ही लौकिक और वैदिक भी कहते हैं।

अन्याय भारतीय दर्शनों की तरह न्याय दर्शन का भी उद्देश्य दुःखों से आत्मन्तिक निवृत्ति के आय का अनुसंधान करना है। ऐसा तभी हो सकता है

जब आत्मा, शरीर, इन्द्रिय तथा सांसारिक विषयों के बंधन से मुक्त हो जाय। आत्मा शरीर और मन से भिन्न है। शरीर का निर्माण भौतिक तत्वों के सम्मिश्रण से होता है। जब आत्मा को इन्द्रियों द्वारा किसी वस्तु से सम्बंध होता है तो उसमें चैतन्य, आत्मा का कोई नित्य गुण नहीं है। यह आगंतुक गुण है। जब मन और इन्द्रियों के द्वारा आत्मा किसी विषय से सम्बद्ध होता है तभी उस विषय का चैतन्य या ज्ञान आत्मा को होता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा इन सम्यकों से रहित हो जाता है। ज्ञान भी लुप्त हो जाता है। आत्मा ही सांसारिक विषयों में आसक्त या अनासक्त होता है। कर्मों के अच्छे-बुरे फलों का उपभोग भी इसी को करना पड़ता है। अविद्या के वशीभूत होकर आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह से प्रेरित हो अच्छा या बुरा कर्म करता है और तदनुरूप फल भोग हेतु जन्म-मरत के चक्र में पड़ता है। तत्त्वज्ञान से ही आत्मा को जन्म-मरण अर्थात् आवागमन के चक्र से मुक्ति दिलायी जा सकती है। इस अवस्था को अपवर्ग कहा जाता है। मोक्षावस्था का वर्णन करते हुये नैयायिक कहते हैं कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा शरीर से पूर्णतया मुक्त होकर सुख-दुःख से परे हो जाता है और बिल्कुल अचेतन हो जाता है। इस अवस्था में दुःख का सदा के लिये अंत हो जाता है। यह आत्मा की वह चरम अवस्था है जिसका वर्णन धर्मग्रन्थों में ‘अमयम्’, ‘अजरम्’ ‘अमृत्युपदम्’ आदि नामों से किया गया है।

जहाँ तक नैयायिकों की ईश्वर मीमांसा का प्रश्न है, नैयायिकों के अनुसार ईश्वर जगत का आदिसत्ता, पालक तथा संहारक है। वह शून्य से संसार की सृष्टि नहीं करता वरन् नित्य परमाणुओं दिक्, काल, आकाश तथा मन तथा आत्माओं से उसकी सृष्टि करता है। ईश्वर संसार का आदि निर्माता है उपादान कारण नहीं। इसे हम विश्वकर्मा कह सकते हैं। न्याय दर्शन में ईश्वर के छः गुण बताये गये हैं जिन्हें ‘षडैश्वर्य’ कहा जाता है। ये गुण हैं-अधिपत्य, वीर्य, यश, श्री ज्ञान एवं वैराग्य। ईश्वर को हम संसार का प्रायोजक कारण भी कह सकते हैं। जिस प्रकार कोई बुद्धिमान एवं दयालु पिता अपने पुत्र को उसकी मेधा, योग्यता एवं उपार्जित गुण के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी सभी जीवों को अपने-अपने अदृष्ट (अतीत संस्कार) के अनुसार

कर्म करने को तथा उनके अनुसार फल पाने को प्रेरित करता है। मनुष्य अपने कर्मों का कर्ता तो है-लेकिन वह ईश्वर के द्वारा अपने अदृष्ट (या अतीत कर्म) के अनुसार प्रेरित या प्रायोजित होकर कर्म करता है। अतः ईश्वर को जीव के कर्मों का प्रायोजककर्ता कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का धर्म व्यवस्थापक है, उनका कर्म कहते हैं। इस प्रकार ईश्वर संसार के मनुष्यों एवं मनुष्येतर जीवों का धर्म व्यवस्थापक है, उनका कर्मफल दाता और सुखों-दुःखों का निर्णायक है।

नैयायिक ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिये अनेक युक्तियों का सबरा लेते हैं-जैसे-इस संसार का जो कर्ता है वही ईश्वर है, अदृष्ट का अधिष्ठाता ईश्वर है, धर्मग्रन्थों की प्रामाणिकता का कारण ईश्वर है आदि तथापि उनकी मान्यता है कि ईश्वर सिद्धि के परंपरागत प्रमाण यथार्थतः प्रमाण नहीं है। तर्क से नहीं प्रत्युत साक्षात् अनुभूति से ईश्वर का ज्ञान हो सकता है।

4.1.6 वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन के प्रवत्रक महर्षि कणाद थे। कहा जाता है कि वे इतने बड़े संतोषी थे कि खेतों से चुने हुये अन्नकणों के सहारे ही जीवन यापन करते थे इसलिये उनका उपनाम पड़ा ‘कणाद’। उनका वास्तविक नाम ‘उलूक’ था इसलिये उनके द्वारा प्रवत्रित यह दर्शन औलूक्य दर्शन भी कहलाता है। चूंकि इस दर्शन में ‘विशेष’ नामक पदार्थ की विशद रूप से विवेचना की गयी है। अतः यह दर्शन वैशेषिक भी कहलाता है।

वैशेषिक दर्शन में 7 पदार्थों के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय में छ भाव पदार्थ हैं और सातवाँ ‘अभाव’ पदार्थ है। द्रव्य वह पदार्थ है जो स्वतः गुण या कर्म से भिन्न होते हुये भी उसका आश्रय स्पर्श्य है। गुण और कर्म जब भी रहेंगे किसी न किसी द्रव्य में ही रहेंगे। द्रव्य नौ प्रकार के होते हैं-1. पृथ्वी, 2. जल, 3. अग्नि, 4. वायु, 5. आकाश, 6. दिक्, 7. काल, 8. आत्मा, 9. मन।

इनमें प्रथम पाँच भौतिक हैं। उनके गुण क्रमशः गन्ध, रस, रूप स्पर्श तथा शब्द है। पृथ्वी, जल, अग्नि, तथा वास क्रमशः चार प्रकार के परमाणुओं से बने हुये हैं। ये परमाणु भौतिक होते हुये भी अनश्वर हैं परमाणुओं की सृष्टि नहीं होती है। वे शाश्वत हैं। किसी भौतिक पदार्थ के सबसे छोटे टुकड़े को जिसका और अधिक विभाजन संभव नहीं है परमाणु कहते हैं।

आकाश, दिक् तथा काल अप्रत्यक्ष द्रव्य हैं-वे एक नित्य तथा विभु हैं। मन नित्य है परन्तु विभु नहीं। यह परमाणु की तरह निखयव है। जीवात्मा और उसके गुण (सुख-दुःखादि) को प्रत्यक्ष करने वाला आम्यंतरिक साधन या अंतरिन्द्रिय मन है। यह परमाणु रूप है। अतः दृष्टिगोचर नहीं होता है।

गुण वह पदार्थ हो द्रव्य में ही रहता है जिसमें और गुण या कर्म नहीं रह सकता। सब मिलकार चौबीस प्रकार के गुण होते हैं। 1. रूप, 2. रस, 3. गन्ध, 4. स्पर्श, 5. शब्द, 6. संध्या, 7. परिमाण, 8. पृथक्त्व, 9. संयोग, 10. विभाग, 11. परात्व, 12. अपरात्व, 13. बुद्धि, 14. सुख, 15. दुःख, 16. इच्छा, 17. द्वेष, 18. प्रयत्न, 19. गुरुत्व, 20. द्रव्यत्व, 21. स्नेह, 22. संस्कार, 23. धर्म और अधर्म।

द्रव्य के मूल गतिशील धर्मों का पारिभाषित नाम कर्म है। गुण द्रव्य का निष्ठिय स्वरूप है और कर्म सक्रिय है। कर्म पाँच प्रकार के होते हैं- 1. उत्क्षेपण (ऊपर फेकना) 2. अवक्षेपण (नीचे फेकना), 3. आकुञ्चन (सिकोड़ना), 4. प्रसारण (फैलाना) और 5. गमन (चलना)।

वह पदार्थ जिसके कारण भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक जाति के अन्तर्गत समविष्ट होकर एक ही नाम से पुकारे जाते हैं। सामान्य कहलाता है। सामान्य को परिभाषित करते हुए न्याय वैशेषिक दर्शन में उसके निम्न लक्षण बतलाये गये हैं-

नित्यमेकमनेकानुगतम सामान्यम्।

द्रव्य गुण कर्म वृत्तिः सामान्यः॥

सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। भिन्न-भिन्न गौओं में जो एकता की प्राप्ति होती है वह इसी सामान्य के कारण। विस्तार या व्यापकता की दृष्टि से सामान्य के तीन भेद होते हैं-

सबसे अधिक व्यापक, सामान्य को 'पर' सबसे कम व्यापक को 'ऊपर' तथा बीच वाले सामान्यों को 'परापर' कहते हैं। द्रव्यों के अपने-अपने व्यक्तिगत स्वरूप जिनके कारण वे एक दूसरे से पहचाने जाते हैं विशेष कहलाते हैं। जो द्रव्य निखयव होने के कारण नित्य हैं उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को ही विशेष कहते हैं। ऐसे द्रव्यों दिक्, काल, आकाश, मन, आत्मा तथा चार भूतों के परमाणु विशेष नित्य, असंख्य और अगोचर हैं।

न्याय वैशेषिक दर्शन में सम्बंध दो प्रकार के माने जाते हैं-संयोग और समवाय। पृथक-पृथक वस्तुओं का कुछ काल के लिये मिल जाना संयोग सम्बंध कहलाता है। यह क्षणिकद्व अनित्य और वास्तव होता है। समवाय नित्य सम्बंध है। यह दो पदार्थों का वह सम्बंध है जिसके कारण एक दूसरे में समवेत रहता है। समवाय सम्बंध को 'अयुतसिद्ध' सम्बंध भी कहते हैं। यह सम्बंध उन्हीं दो पदार्थों में होता है जिनमें कम से कम एक दूसरे के बिना नहीं रह सकता।

प्रायः लोग अभाव के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। परंतु वैशेषिक दर्शन अभाव के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। रात में जब हम आकाश की ओर देखते हैं तो उसमें सूर्य का नहीं होना वैसे ही निश्चित रूप से मालुम होता है जैसे-चन्द्रमा या तारों का होना। अभाव दो प्रकार का होता है-1. संसर्गभाव और अन्योन्याभाव। किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव संसर्गभाव है जैसे अग्नि में शीतलता का अभाव। अन्योन्याभाव का अर्थ है एक वस्तु का दूसरी वस्तु नहीं होना। जैसे अग्नि जल नहीं संसर्गभाव तीन प्रकार का होता है-1. प्रागभाव, 2. ध्वसाभाव, 3. अत्यन्ताभाव।

अन्योन्याभाव का अर्थ है दो वस्तुओं का एक नहीं होना। जब एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होती है तब उसका अर्थ यह होता है कि पहली वस्तु का दूसरी वस्तु के रूप में अभाव है और दूसरी वस्तु का पहली के रूप में।

अत्यन्ताभाव की तरह अन्योन्याभाव भी अनादि और अनंत होता है। ईश्वर तथा मोक्ष के विषय में वैशेषिक तथा न्याय मतों में पूर्णतः साम्य है। अतः उसका विवेचन तथ्यों का पिष्टपेषण होगा।

4.1.7 साँख दर्शन एवं योग दर्शन

NOTES

साँख दर्शन के प्रवत्रक महर्षि कपिल हैं। आस्तिक दर्शनों में यह प्राचीनतम दर्शन माना जाता है। साँख पुरुष और प्रकृति इन दो मूल तत्वों में विश्वास करता है। अपने-अपने अस्तित्व के लिये पुरुष और प्रकृति परस्पर निरपेक्ष हैं। पुरुष (आत्मा) शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि से भिन्न है। यह सांसारिक विषय नहीं है। आत्मा वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप है जो सर्वदा ज्ञाता के रूप में रहता है, कभी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। यह चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य इसका गुण नहीं वरन् स्वभाव है। जितने कर्म या परिणाम है जितने सुख या दुःख है वे सभी प्रकृति और उसके विकारों के धर्म हैं। साँख बहु आत्मवादी दर्शन है। यदि बहुलता नहीं होती तो एक पुरुष के सुखी, दुःखी, मूढ़, बद्ध या मुक्त हो जाने से सभी पुरुष वैसे ही हो जाते। एक पुरुष के मरने पर सभी मरते, जन्म लेने पर सबों का जन्म होता। स्त्री-पुरुष जहाँ एक तरफ पशु-पक्षियों से ऊपर की श्रेणी में है वहीं दूसरी तरफ देवताओं से नीचे की श्रेणी में है। यदि पशु-पक्षी, मनुष्य देवता सभी में एक ही आत्मा का निवास होता तो ये विभिन्नतायें नहीं होती। इन बातों से सिद्ध होता है कि आत्मा एक नहीं अनेक है।

प्रकृति इस संसार का आदि कारण है वह एक नित्य और जड़ वस्तु है। “मुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः” सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृति में रहते हैं। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम ये मूलद्रव्य प्रकृति के उपादान तत्व हैं। ये ‘गुण’ इसलिये कहलाते हैं कि ये रस्सी के तीनों गुणों (रिशों) की तरह आपस में मिलकर पुरुष के लिये बंधन का कार्य करते हैं। गुणों के स्वरूप के सम्बन्ध में सौख्य कारिका में निम्नानुसार विवरण प्राप्त होता है-

सत्त्वं लघुं प्रकाशमकमिष्टउवष्टमकं चलं च रजः।

गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥

सत्त्वगुण हल्का और इसीलिये प्रकाशमय माना जाता है। रजोगुण चंचल तथा इसीलिये उत्तेजक (उवष्टमक) है। तमोगुण भारी अतएव अवरोधक (नियामक)

है-एक ही प्रायोजन की सिद्धि के लिये ये तीनों मिलकर काम करते हैं। जैसे दीपक में अग्नि, बल्ती और तेल का विरोधी है-फिर भी तीनों मिलकर वस्तुओं के प्रकाशन का कार्य करते हैं।

पुरुष तथा प्रकृति के संयोग से (अर्थात् वासना के बन्धन से) सृष्टि का प्रारम्भ होता है प्रकृति के तीनों गुणों की साम्यावस्था पुरुष के संयोग से नष्ट हो जाती है। जगत की सृष्टि इस क्रम से होती है-सबसे पहले महत् या बुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। बुद्धि के विशेष कार्य हैं निश्चय और अवधारण। बुद्धि के द्वारा ही हम किसी विषय के सम्बंध में निर्णय करते हैं। बुद्धि की सहायता से पुरुष अपना और प्रकृति का भेद समझकर अपने यर्थात् स्वरूप की विवेचना कर सकता है। प्रकृति का दूसरा विकास अहंकार है। यह महत्तत्व का परिणाम है। बुद्धि का मैं और मेरा यह अभिमान का भाव ही अहंकार है। इसी अहंकार के कारण पुरुष मिथ्या भूम में पड़कर अपने को कर्ता (काम करने वाला) कामी (इच्छा करने वाला) और स्वामी (वस्तुओं का अधिकारी) समझने लगता है। अहंकार में जब महत्तत्व का बाहुल्य होता है तो उससे पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय तथा मन की सृष्टि होती है। तामस अहंकार से पंच तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं। पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों का आविभीव होता है।

पुरुष नित्य तथा निरपेक्ष है किन्तु अविद्या के कारण वह अपने को शरीर, इन्द्रिय तथा मन से पृथक् नहीं समझता। पुरुष तथा प्रकृति में अविवेक के कारण हमें दुःखों से पीड़ित होना पड़ता है। बुद्धि में सुख या दुःख का आविर्भाव होने पर आत्मा को ऐसा भान होता है कि इसे ही सुख या दुःख हो रहा है (क्योंकि वह बुद्धि से अपने को अभिन्न समझता है ठीक उसी तरह से जैसे प्रिय संतान के सुखी या दुःखी होने पर पिता अपने को ही सुखी या दुःखी समझता है। यही अज्ञानता या अविवेक सारे अनर्थों की जड़ है। ज्यों ही हमें विवेक होता है अर्थात् ज्यों ही पुरुष का शरीर, इन्द्रिय, मन, अहंकार और बुद्धि से पार्थक्य हो जाता है त्यों ही पुरुष के समस्त सुखों-दुःखों का अंत हो जाता है। तब पुरुष का संसार के साथ कोई अनुराग नहीं रहता और वह संसार के घटनाक्रम का

साक्षी या द्रष्टामात्र रह जाता है। इसी अवस्था को मुक्ति या कैवल्य कहते हैं। यह अवस्था आत्मज्ञान की स्थिति है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये बहुत बड़ी साधना की आवश्यकता होती है। उसके लिये इस सत्य का निरंतर मनन और निदिध्यासन चाहिये कि आत्मा, शरीर, इन्द्रिय मन और बुद्धि नहीं। इसके लिये योगदर्शन में वर्णित योगांगों की साधना करनी पड़ती है।

सॉख्य दर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। संसार की सृष्टि के लिये किसी ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि पूरे संसार के निर्माण के लिये प्रकृति ही पर्याप्त है। शाश्वत तथा अपरिवत्रनशील ईश्वर परिवत्रनशील और नश्वर जगह का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि कारण तथा परिणाम वस्तुतः अभिन्न होते हैं। कारण ही परिणाम में परिणत हो जाता है। ईश्वर संसार में परिणत नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर परिवत्रनशील नहीं माना जाता है।

योग दर्शन :

योग दर्शन के प्रवत्रक महर्षि पतंजलि हैं। सॉख्य दर्शन के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति विवेक ज्ञान (पुरुष और प्रकृति के पार्थक्य ज्ञान) से ही हो सकती है। परन्तु जब तक मन पर पूर्ण नियंत्रण नहीं हो जाता है चित्त में निरन्तर उठने वाली चंचल वृत्तियों का शासन नहीं हो जाता है। इसीलिये योग दर्शन चित्तवृत्तियों के निरोध पर बहुत जोर देता है। यहाँ तक कि महर्षि पतंजलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है। योगस्तुचित्तवृत्ति निरोधः।

वृत्तियाँ पाँच हैं- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा तथा स्मृति। अज्ञात वस्तु का निश्चय कराने वाली वृत्ति प्रमाण है। विषयों के सम्बंध में मिथ्याज्ञान को विपर्यय (भ्रम) कहते हैं। वास्तविकता से दूर तथा काल्पनिक प्रतीति को विकल्प कहते हैं जैसे यह ब्राह्मण सूर्य है, खरहे की सींग आदि। निद्रा वह चित्तवृत्ति है जिसमें तमोगुण का प्राधान्य होता है और उसके कारण जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं के अनुभव विलीन हो जाते हैं। अतीत अनुभवों की यथावत् मानसिक प्रतीति 'स्मृति' है।

चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के द्वारा ही संभव है। चित्तस्थिरता के लिये यम-नियमादि योगांगो का अनुष्ठान करना ही अभ्यास कहलाता है। तृष्णा रहित होना ही वैराग्य है। योग के अंग माने गये हैं जिन्हें अब्धंग योग कहते हैं। इन अंगों के अनुष्ठान से अविद्या का नाश हो जाता है तथा यर्थार्थज्ञान की प्राप्ति होती है। योग के आठ अंग निम्नलिखित हैं-

यम : अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्या परिगृहः यमाः। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, ही यम है। इस आदर्श का पालन मनसा, वाचा, कर्मणा किया जाना चाहिये।

नियम : “शौच संतोष तप स्वाध्याये श्वर प्रणिधानादि नियमाः”। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिवान-(परम् पिता परमेश्वर को सब कुछ अर्पण करना ही ईश्वर प्रणिधान है) इन आचारों का अभ्यास ‘नियम’ कहलाता है।

आसन : “स्थिर सुखमासनम्” आनन्दप्रद शारीरिक स्थिति को आसन कहते हैं।

प्राणायाम : नियन्त्रित रूप से श्वास ग्रहण, धारण तथा त्याग को प्राणायाम कहते हैं।

प्रत्याहार : इन्द्रियों को विषयों से हटाने का नाम इन्द्रिय संयम अथवा प्रत्याहार है।

धारण : वाट्य तथा आन्तरिक किसी भी विषय से चित्त को बाँध देना या लगा देना ही धारणा है।

ध्यान : किसी विषय का सुदृढ़ तथा अविराम चिंतन ध्यान कहलाता है।

समाधि : चित्त की वह अवस्था जिसमें ध्यानशील चित्त ध्येय विषय में तल्लीन हो जाता है।

कहा जाता है कि योगाभ्यास करते समय साधन को विशेष अवस्थाओं में विशेष सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। ये सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती हैं-

आणिमा : योगी चाहे तो अणु के समान छोटा या अदृश्य बन सकता है।

लघिमा : योगी चाहे तो रुई के समान हल्का होकर उड़ सकता है।

महिमा : योगी चाहे तो पहाड़ के समान बड़ा बन सकता है।

प्राप्ति : योगी चाहे तो कहीं से कोई भी वस्तु मँगा सकता है।

प्राकाम्य : योगी की इच्छाशक्ति बाधा रहित हो जाती है।

वशित्व : योगी सब जीवों को वशीभूत कर सकता है।

ईशित्व : वह सब भौतिक पदार्थों पर अधिकार जमा सकता है।

यत्रकामावसायित्व : योगी का जो संकल्प होता है उसकी सिद्धि हो जाती है।

यहाँ पर योगदर्शन का कड़ा आदेश है कि साधन को अलौकिक ऐश्वर्यों के चक्कर में नहीं पड़ता चाहिये। नहीं तो वह पथभ्रष्ट हो जाता है। उसे तो एकमात्र आत्मदर्शन के लिये ही प्रयासरत् रहना चाहिये।

योगदर्शन में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। इसीलिये प्रायः योग दर्शन को सेश्वर साँख्य भी कहा जाता है। योग के अनुसार चित्त की एकाग्रता के लिये तथा आत्मज्ञान के लिये ईश्वर ही ध्यान का सार्वोत्तम विषय है। ईश्वर पूर्ण, नित्य, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ तथा सर्वदोष रहित है। योग दर्शन की मान्यता है कि पुरुष और प्रकृति के संयोग से संसार की सृष्टि का आरम्भ होता है। संयोग का अंत होने पर प्रलय होता है। पारस्परिक संयोग या वियोग पुरुष और प्रकृति के लिये स्वाभाविक नहीं है। अतः एक पुरुष-विशेष का अस्तित्व परमावश्य है जो पुरुष के पास तथा पुण्य के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति में संयोग स्थापित करता है।

4.1.8 मीमांसा दर्शन

आस्तिक दर्शनों में मीमांसा अग्रगण्य है। मीमांसा दर्शन के पूर्ववर्क महर्षि जैमिनी थे। मीमांसा दर्शन में वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि की गयी तथा वैदिक मंत्रों की यागपरक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। संक्षेप में मीमांसा दर्शन के दो मुख्य विषय हैं-कर्मकाण्ड की विधियों में असंगति दूर करने तथा संगति उत्पन्न करने के लिये व्याख्या पञ्चति का निर्माण करना और कर्मकाण्ड के मूल सिद्धांतों का तर्कनिष्ठ प्रतिपादन करना।

मीमांसा के अनुसार वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं। वेद का प्रकाश ऋषियों द्वारा हुआ है। वेद की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये मीमांसा दर्शन में प्रमाणों का सविस्तार विचार हुआ है।

वेद का विधान ही धर्म है वेद जिसका निषेध करता है वह अधर्म है। विहित कर्मों का पालन तथा निषिद्ध कर्मों का त्याग धर्म कहलाता है। वेद विहित कर्मों को

किसी फल या पुरस्कार की प्रत्याशा में नहीं करना चाहिये वरं उन्हें आदेश मानकर उनका पालन करना चाहिये। नित्यकर्मों के निष्काम आचरण से पूर्वार्थित कर्मों का नाश हो जाता है और वेदांत होने पर अपवर्ग की प्राप्ति होती है।

मीमांसा दर्शन के अनुसार चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण नहीं है। जब आत्मा का शरीर के साथ संयोग होता है तभी चैतन्य की उत्पत्ति होती है। जब आत्मा का शरीर से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तब उस समय वह चेतनाविहीन हो जाता है फिर भी उसमें चैतन्य की शक्ति विद्यमान रहती है।

प्रामाण्यवाद का निरूपण मीमांसा की अन्यतम विशेषता है। यथार्थ अनुभव के रूप में जो प्रमा या प्रमाण होता है उसी में रहने वाले धर्म को प्रामाण्य कहते हैं। इसी तरह अयार्थ अनुभव में रहने वाले धर्म को अप्रामाण्य कहते हैं। अब प्रश्न है कि किसी वस्तु के प्रामाण्य या अप्रामाण्य का क्या कारण है कारण खोजने के विषय में विभिन्न दार्शनिक विवाद करते हैं-उनके वाद को ही प्रामाण्यवाद कहते हैं।

‘सर्वदर्शन संग्रह’ में प्रामाण्यवाद का निरूपण निम्नानुसार किया गया है-

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वतः साँख्याः समाश्रिताः

नैपाविकास्ते परतः सौगन्ताश्च चरमं स्थृत्।

प्रथमं परतः ब्राहुः प्रमाण्यं वेदवादिनः

प्रमाणत्वं स्वतः प्रातु परतश्चाप्रमाणतम्।

प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों को साँख लोग स्वतः मानते हैं। नैवाविक लोग दोनों को परतः मानते हैं। बौद्ध लोग अप्रामाण्य को स्वतः तथा प्रामाण्य को परतः मानते हैं। जबकि मीमांसक लोग प्रामाण्य को स्वतः तथा अप्रामाण्य को परतः मानते हैं। जहाँ तक प्रमाण तथा उनकी संख्या का प्रश्न है प्रमाकर मीमांसा के अनुसार प्रमाणों की संख्या 5 है-प्रत्यक्ष, अवमान, उपमान शब्द अर्थापत्ति। इनसे सम्बन्धित मीमांसा की व्याख्या न्याय दर्शन से मिलती जुलती है। जब कोई ऐसी घटना देखने में आती है जो बिना एक दूसरे विषय की कल्पना किये समझ में नहीं आ सकती तो उस अदृष्ट की कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं। जैसे-देवदत्त दिन में कभी भोजन नहीं करता, फिर भी दिन-दिन मोटा होता जाता

है। अब यहाँ इन दोनों बातों में उपवास तथा शरीर पुष्ट में परस्पर विरोध देखने में आता है। अब इन दोनों विरुद्ध बातों की उपपत्ति तभी संभव हो सकती है जब यह कल्पना कर ली जाय कि देवदत्त रात में खूब भोजन करता है। ऐसी कल्पना को अर्थापत्ति कहते हैं।

कुमरिल भट्ट तथा अद्वैत वेदान्त का मत है कि किसी विषय के अभाव का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा। कोठरी में घड़ा नहीं है। इस ज्ञान को प्रत्यक्ष तो नहीं कह सकते क्योंकि अभाव कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका इन्द्रिय के साथ सम्पर्क हो सके। घर का आँख के साथ सम्पर्क हो सकता है घटाभाव का नहीं। अतएव भट्ट मीमांसकों का कहना है कि यहाँ घटाभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि (अदर्शन) के कारण होता है।

मीमांसा भौतिक जगत को मानती है। मीमांसा वात्य सत्तावादी है। परन्तु मीमांसक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। यद्यपि आत्मा के अस्तित्व को मीमांसक स्वीकार करते हैं। जगत अनादि तथा अनंत है न इसकी कमी सृष्टि हुई है और न प्रलय होता है। सांसारिक वस्तुओं का निर्माण आत्माओं के पूर्वार्जित कर्मों के अनुसार भौतिक तत्वों से होता है बहुत सारे दर्शनों में ईश्वर को कर्मफल प्रदाता के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु मीमांसक तो ईश्वर को मानते ही नहीं ऐसी स्थिति में प्रश्न पैदा होता है कि कर्मफल का प्रदाता होगा कौन? साथ ही कर्मफल का संरक्षक कौन होगा? मीमांसकों के अनुसार जब कोई व्यक्ति यज्ञादि कर्म करता है तो एक शक्ति की उत्पत्ति होती है जिसे 'अपूर्ण' कहते हैं। इसी अपूर्व के कारण किसी भी कर्म का फल भविष्य में उपयुक्त अवसर पर मिलता है। अतः इस लोक में किये गये कार्यों के फल का उपयोग परलोक में किया जा सकता है।

4.1.9 वेदान्त दर्शन- शांकर अद्वैत

आचार्य शंकर द्वारा प्रतिपादित वेदान्त अद्वैत वेदान्त कहलाता है। अपने सम्पूर्ण दर्शन का सार एक अर्द्ध श्लोक में व्यक्त करते हुये आचार्य कहते हैं “ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवैः ब्रह्मएव नापरः” अर्थात् ब्रह्म ही एकमात्र सत्य

है। दृश्यमान जगत् तथा जागतिक वस्तुयें मिथ्या हैं। आत्म और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। आत्मा ही ब्रह्म है। यह अद्वैत और कूटस्थ नित्य है।

आचार्य अपने दार्शनक सिद्धांतों की व्याख्या एवं स्थापना के पूर्व प्रचलित दार्शनिक मतों रूपी ज्ञाड़ियों की अपने तर्क रूपी निर्मम कुलहाड़ी ढारा काटकर छिन्न-भिन्न कर देते हैं। और अपने अद्वैत मत को उपनिषदों की उपयुक्ततम व्याख्या तथा वेदान्त तथा वेदान्तसूत्र के सर्वाधिक निकट सिद्ध करते हैं। अपने जगत् एवं सृष्टि विषयक् सिद्धांत की स्थापना पूर्व आचार्य साँख के सृष्टि विचार एवं वैशेषिक परमाणुवाद का निर्मम खण्डन करते हैं। सृष्टि को उद्देश्यमूलक स्वीकार कर और साथ ही सृष्टिकर्ता का अस्तित्व अस्वीकार कर साँख ने अपने को एक विचित्र स्थिति में डाल दिया है। चैतन्य रहित उद्देश्य अवोधगम्य है बिना किसी चेतन परिचालक के उपाय और उपेय, साधन और उद्देश्य का संयोजन संभव नहीं। सॉख्य जिन पुरुषों को मानता है वे निष्क्रिय होते हैं अतएव उनसे भी जगत् की सृष्टि में सहायता नहीं मिल सकती।

वैशेषिक का परमाणुवाद भी स्वीकार्य नहीं। क्योंकि अचेतन परमाणु इस विलक्षण रूप में सुव्यवस्थित विश्व को उत्पन्न नहीं कर सकते। परमाणुओं की प्रेरणा के लिये वैज्ञानिक अदृष्ट का सहारा लेते हैं। परन्तु इससे भी समस्या हल नहीं होती। क्योंकि वह भी तो अचेतन है। फिर इस बात का भी समुचित समाधान नहीं मिलता कि सृष्टि रचना के लिये पहले-पहल परमाणुओं ने क्रिया कैसे उत्पन्न हुई?

इसी तरह बौद्धों का क्षणिकवाद भी स्वीकार नहीं। क्षणिक वस्तुओं में कारण नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य को उत्पन्न करने के लिये (कारण) में क्रिया होनी चाहिये। इस तरह उसकी सत्ता एक क्षण से अधिक होनी चाहिये जो क्षणिकवाद के विरुद्ध पड़ता है। यदि क्षणिक तत्वों की किसी तरह उत्पत्ति मान भी लेते हैं तो फिर उनका संयोग नहीं बनता क्योंकि बौद्ध मतानुसार कोई द्रव्य नहीं माना गया है जो इन तत्वों को एक साथ मिलाकर अभीष्ट विषय को उत्पन्न करें।

इसी तरह आचार्य शंकर विज्ञानवादी-बौद्धों के मत-“विज्ञान आत्मा है” का भी जोरदार खण्डन करते हैं। यदि बाल्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता तो यह

भी नहीं कहा जा सकता है कि आन्तरिक विज्ञान ही वास्य वस्तुओं की तरह दिखलाई पड़ते हैं। इसी अनुक्रम में आचार्य शंकर नैयायिकों के अन्यभाष्याति वाद, शून्यवादी बौद्धों के भ्रम सिद्धांत असत्ययातिवाद करते हैं।

आचार्य शंकर सत्ता को विविध कोरियों में विभाजित करते हैं-प्रातिभासिक, व्यावहारिक एवं पारमार्थिक। रज्जु र्सफ सुकृत रजत की प्राविभासिक जगत और जागतिक वस्तुओं की व्यावहारिक और ब्रह्मया आत्मा की एकमात्र पारमार्थिक सत्ता है।

माया ईश्वर की सर्गकारिणी शक्ति है जिसके द्वारा ईश्वर वैचित्यपूर्ण जगत की अद्भुत लीला करते हैं। आत्मा और ब्रह्म में कोई अेद नहीं है दोनों में वादात्म है। मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान द्वारा ही हो सकती है। अविद्या को दूर करने तथा ज्ञान प्राप्ति हेतु सर्वप्रथम साधक को साधन चतुष्टय-नित्यानित्यवस्तु विवेक, इहामुत्रार्थ ओग विराग, शमदमादिसाधनसम्पत् और मुमुक्षत्व की सिद्धी करनी चाहिये। तत्पश्चात् ऐसे व्यक्ति को किसी योग्य गुरु से वेदान्त का श्रवण करना चाहिये और उसके सिद्धांतों का मनन तथा निदिध्यासन करना चाहिये। तत्पश्चात् ऐसे शिष्य को गुरु ‘तत्त्वमसि’ का उपदेश देता है। गुरु की इस उक्ति का शिष्य मनन करता है और अंत में उसे साक्षात् ज्ञान होता है कि अहं ब्रह्मास्मि (मैं ब्रह्म हूँ) यही पूर्णज्ञान है और इसी को मोक्ष कहते हैं। आचार्य शंकर जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति दोनों में विश्वास करते हैं।

4.1.9.2 रामानुज वेदांत - विशिष्ट द्वैत मत

आचार्य रामानुज, शंकर के जगत विचार एवं मायावाद से बिल्कुल संगति नहीं रखते हैं। ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता है। अचित् या अचेतन प्रकृति और चित् या चेतन आत्मा ईश्वर के ही अंश हैं। ईश्वर सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर में अचित तत्व सर्वदा वत्रमान रहता है। इसी अचित् तत्व से ईश्वर संसार की रचना उसी प्रकार से करते हैं जैसे मकड़ी अपने अन्दर के रस से जाले का निर्माण करती है। आत्मा भी सर्वदा ईश्वर में वत्रमान रहते हैं। कर्मानुसार प्रत्येक आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है। शरीर युक्त होना ही बंधन है। आत्मा

का शरीर से पूरा-पूरा सम्बंध विच्छेद ही मोक्ष है। अज्ञानता के कारण जीव इन्द्रिय सुख के लिये लालायित रहता है और संसार में आसक्त हो जाता है और इसी आसक्ति के कारण उसे बार-बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है। अनासक्त भाव से वेदविहित धर्मों का आचरण करने से कर्मों की संचित शक्ति नष्ट हो जाती है और अनंत ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही साथ यह भी ज्ञान हो जाता है कि ईश्वर की एकमात्र सत्ता है और प्रेम के योग्य भक्त दिनरात ईश्वर की भक्ति और याद में झूब जाता है भक्त की भक्ति से प्रसन्न होकर ईश्वर उसे अपनी शरणागति प्रदान करते हैं और अंत में भक्त पर ईश्वर अपनी कृपा कादम्बनी की दृष्टि करते हुये उसे भवबन्धन से मुक्त कर देते हैं। मुक्त आत्मा देहान्त के बाद कभी जन्म नहीं ग्रहण करता। वह ईश्वर सदृश हो जाता है। परन्तु किसी भी स्थिति में भक्त और भगवान् (जीव आत्मा) और ब्रह्म में तादाम्य नहीं हो सकता।

सारांश

उपुर्यक्त समस्त नास्तिक और आस्तिक दर्शनों की विषयवस्तु का विवेचन करने के उपरान्त सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि प्रायः समस्त भारतीय दर्शनों का आन्तिम उद्देश्य उस मार्ग का अनुसंधान करना है उस उपाय का आविष्कार करना है जिस पर चलकर, जिसको सिद्ध कर जीव के दुःखों का आत्मनिक रूप से अंत किया जा सके। चार्वाक दर्शन को छोड़कर प्रायः समस्त भारतीय दर्शन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद मात्सर्य को आध्यात्मिक शत्रु के रूप में स्वीकार करते हैं और इनकी सदा-सर्वदा समाप्ति के लिये अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि के सतत आचरण को आध्यात्मिक प्रगति हेतु आवश्यक मानते हैं। चाहे भक्ति मार्ग दार्शनिक हो अथवा ज्ञानमार्ग अथवा जैन, बौद्ध जैसे नास्तिक सभी यह स्वीकार करते हैं कि संसार एवं सांसारिक भोग वस्तुओं में आसक्ति ही वस्तुतः बन्धन (दुःख) का कारण है और अनासक्त भाव से कर्म करते हुये जब जीव शरीर बन्धन से ऊपर उठ जाता है तो उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

नास्तिक दर्शन : वे दर्शन जो वेद को प्रमाण नहीं मानते हैं और कदाचित वेदों की आलोचना भी करते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शनों की श्रेणी में आते हैं।

आस्तिक दर्शन : वे दर्शन जो वेदों को प्रमाण मानते हैं इसके अन्तर्गत न्याय, वैशेषिक, साँख, योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शन आते हैं।

तीर्थकर : जैन दार्शनिक ईश्वर में विश्वास नहीं करते। वे जैन मत के प्रवत्रकों (तीर्थकर) में ही ईश्वर के सदृश शब्द भाव रखते हैं। जैन दर्शन में ऐसे तीर्थकरों की संख्या 24 मानी गयी है।

पुद्गल : जैन दर्शन में जड़तत्व को पुद्गल कहा जाता है।

कषाय : जैन दर्शन में जीव की कुप्रवृत्तियों-क्रोध, मान, माया, लोभ जो बंधन (पुनर्जन्म) का कारण है को ही कषाय कहा गया है।

आसव : जीव की तरफ कर्म पुद्गल के प्रवाह को आसव कहा जाता है।

संवर : जीव की तरफ होने वाले कर्म पुद्गल का प्रवाह बंद हो जाय, इसी को सेवर कहा जाता है।

निर्जरा : जीव में जो पुद्गल पहले से ही प्रविष्ट हो चुके हैं वे कमजोर होकर समाप्त हो जाय इसी को निर्जरा कहा जाता है।

अर्निवचनीय : जिसका वर्णन वाणी (शब्द आदि) के माध्यम से न किया जा सके। उसी सत्ता को अर्निवचनीय कहा जाता है।

सूची प्रश्न

1. भारतीय दार्शनिक विशेषता के रूप में कर्मवाद का विवेचन कीजिये।
2. क्या भारतीय दर्शन निराशावादी है? स्वपथा के समर्थन में तर्क दीजिये।
3. चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा का निरूपण कीजिये।
4. जैन दर्शन की विषय वस्तु पर प्रकाश कीजिये।
5. जैन 'त्रिरत्न' मोक्ष के साधन हैं। इस तथ्य की विवेचना कीजिए।
6. बौद्ध दर्शन के द्वितीय आर्यसत्य की विशेषताओं का निरूपण कीजिए।

7. न्याय दर्शन की विषयवस्तु पर प्रकाश डालिए।
8. न्याय दर्शन के अनुमाण प्रमाण की व्याख्या कीजिये।
9. वैशेषिक दर्शन की ‘पदार्थ मीमांसा’ का निरूपण कीजिए।
10. साँख्य के विकासवाद सिद्धांत की व्याख्या कीजिए।
11. अण्यंग योग का निरूपण कीजिए।
12. मीसांसा दर्शन की विषय-वस्तु पर एक निबन्ध लिखिये।
13. शंकर और रामानुज के ईश्वर सम्बंधी विचारों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

प्रदत्त कार्य

1. भारतीय आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों का सूचीबद्ध विवेचन कीजिए।
2. चार्वाक के नैतिक विचारों के सम्भावित प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।
3. अष्टांगिक मार्ग की साधना निर्वाण प्राप्ति में कैसे सहायक है वर्णन कीजिए।
4. जैन दर्शन के अहिंसा सम्बंधी विचारों का मूल्यांकन कीजिए।
5. भारतीय तर्कशास्त्र के विकास में न्याय दर्शन के योगदान का निरूपण कीजिए।
6. ‘अष्टांगिक योग’ चित्त वृत्तियों के निरोध में कैसे सहायक है? वर्णन कीजिए।
7. मीमांसा दर्शन के प्रामाण्यवाद का निरूपण कीजिए।
8. वेदान्त दर्शन से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषतायें बताइये।

उपयोगी ग्रन्थ

1. सर्वदर्शन संग्रह : भाष्यकार डॉ. उमाशंकर शर्मा ‘ऋषि’ चौखम्भा विद्या भवन वाराणसी।
2. भारतीय दर्शन : डॉ. बी.एन.सिंह।
3. भारतीय दर्शन : प्रो. संगमलाल पाण्डे।
4. Indian Philosophy : Prof. C.D. Sharma

दार्शनिक साहित्य : उद्भव और विकास

इकाई की स्परेखा

भूमिका :

उद्देश्य :

4.2.1 भारतीय दार्शनिक साहित्य : उद्भव और विकास

4.2.2 वैदिक साहित्य

4.2.3 महाकाव्य काल : महाभारत (भगवद्गीता)

4.2.4 जैन एवं बौद्ध दर्शन

4.2.5 सूत्रकाल : न्याय एवं वैशेषिक

4.2.6 सॉख्य एवं योग दर्शन

4.2.7 मीमांसा एवं वेदान्त

सारांश

शब्दावली

सूची प्रश्न

प्रदत्त कार्य

उपयोगी ग्रन्थ

भूमिका :

भारतीय दार्शनिक साहित्य के उद्भव और विकास का विवेचन अत्यंत टेढ़ीखीर हैं। कारण कि भारतीय दर्शन का उद्भव चिन्तकों और ऋषि-मुनियों की उन वाणियों और उपदेशों के द्वारा हुआ जिनका साक्षात्कार उन्होंने अपनी प्रमाद साधना के समय किया। साथ ही उक्त साक्षात्कार या दिव्यानुभूति विभिन्न दार्शनिक समस्याओं या प्रश्नों को लेकर चिन्तकों द्वारा विभिन्न देशकाल में किये गये। ऐसे में एक सामान्य दार्शनिक प्रवृत्तियों या विशेषताओं का निर्धारण भी प्रायः कठिन रहा है। ऐसी स्थिति में दार्शनिक साहित्य के उद्भव एवं विकास का तिथिवार ऐतिहासिक विवेचन दार्शनिक मत-मतान्तरों को सहज निमंत्रण देना है।

फिर भी यह निर्विवाद सत्य है कि वेद, भारतीय मनीषा की प्रथम अभिव्यक्ति है। परन्तु वेदों की रचना कब हुई, इस सम्बंध में निश्चित रूप से विद्वानों में मतैक्यता स्थापित करना प्राय असंभव सा है। हाँ, पाश्चात्य दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा निश्चित रूप से भारतीय दर्शन की प्राचीनता का आंकलन किया जा सकता है। ईसा पूर्व छठी शताब्दी में पाश्चात्य दर्शन के जनक थेलीज का जन्म युनान में हुआ। यह समय हमारे देश में महात्मा बुद्ध के आविभीव का है। महात्मा बुद्ध के पहले (अर्थात् पाश्चात्य दर्शन के जनक थेलीज के पूर्व) इस देश में महावीर स्वामी का जैन दर्शन, उसके पहले महाकाव्य काल के अन्तर्गत रामायण एवं महाभारत (विश्व भर में समादृत गीता दर्शन महाभारत का एक अंश है) दर्शन इसके भी पूर्व सम्पूर्ण महान औषनिषद् साहित्य, इसके भी पूर्व आरण्यक एवं ब्राह्मण साहित्य और उसके भी पूर्ण सम्पूर्ण संहितायें अपने वत्रमान कलेवर को प्राप्त कर चुकी थीं। इस स्थल पर तो भारतीय दर्शन की प्राचीनता के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है। तार्किक रूप से वेदों की रचना काल परिणामतः भारतीय दार्शनिक साहित्य की प्राचीनता का निर्धारण पृथक रूप से उचित स्थल पर करना ठीक होगा।

इस इकाई का उद्देश्य पाठकों को भारतीय दार्शनिक साहित्य के उद्भव और विकास से परिचित कराना है। इस इकाई का अध्ययन कर आप भारतीय दार्शनिक साहित्य के उद्भव और विकास से रुबरु हो सकेंगे। साथ ही यह भी जान सकेंगे कि सभ्यता के उषः काल में (अनैतिहासिक काल) जब प्रेस और छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था उस समय इस देश की महान धरती पर ज्ञान का प्रथम आलोक फैला। विशुद्ध तर्क एवं दिव्य साक्षात्कार से प्राप्त ज्ञान की दार्शनिक प्रविष्टि की गयी। इस काल में प्रायः लेखन कला का आविष्कार नहीं हुआ था अतः ऋषियों-मुनियों ने अपनी विशिष्ट साधना काल में प्राप्त दिव्य ज्ञान को सूत्र शैली माध्यम से अपने प्रिय शिष्यों को दिया। दर्शन जगत में साहित्य की यह यात्रा सूत्रकाल के नाम से जानी जाती है। इस इकाई में सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक साहित्य के उद्भव एवं विकास की कहानी को उसकी विशेषताओं सहित सार रूप में व्यक्त किया जायेगा। परिणामतः पाठक भारतीय दर्शन की प्राचीनता से अवगत हो सकेंगे।

4.2.1 भारतीय दार्शनिक साहित्य : उद्भव और विकास

भारतीय दर्शन साहित्य के विकास का इतिहास वैदिक साहित्य से लेकर आज तक समस्त दार्शनिक कृतियों की क्रमबद्ध आलोचना है। इस साहित्य का प्रथम चरण इतना अंधकारमय है कि इसके बीच तारागणों के प्रकाश के समान केवल वैदिक मन्त्रों को छोड़कर अन्य किसी प्रकार के साधन से आलोक की प्राप्ति नहीं होती है। वैदिक मंत्रों, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों का रचनाकाल इतना अनिश्चित है कि हम इनमें किसी प्रकार के ऐतिहासिक क्रम और काल का निश्चय नहीं कर सकते। वेद प्राचीन ऋषियों के स्तवन एवं उपदेशों के ऐसे समूह हैं जिनको कालान्तर में विषयक्रम के आधार पर संग्रहीत किया गया। यदि वेदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में कुछ निश्चय हो भी सके तो यह कहना अत्यन्त कठिन है कि किस ऋषि के कण्ठ से वास्तव में कौन-कौन से मन्त्र स्फुटित हुये। ऋषियों की वाणी को, उनके दृष्ट मन्त्रों को संकलित करके संहितायें बनायी गयी।

इसी बीच ऋषियों ने कर्मकाण्ड और ज्ञान सम्बन्धी अपने विचार शिष्यों के प्रति प्रकट किये जो प्रायः गद्य में थे। बाद में उनको ब्राह्मण कहा गया। संहिताओं और ब्राह्मणों के गूढ़ और गूढ़तः विचारों को क्रमशः आरण्यक् तथा उपनिषद् कहा गया। यह निर्धारित करना कठिन है कि पहले संहिताओं की रचना हुई फिर ब्राह्मणों की तत्पश्चात् उपनिषदों की परन्तु संहिता से ब्राह्मण और ब्राह्मण से उपनिषद् इस ऐतिहासिक क्रम की अवधारणा निर्मूल सी प्रतीत होती है। वास्तव में संहिता, जिनमें ऋषियों के स्वतन्त्र संकलित है और ब्राह्मण और उपनिषदों की रचना एक ही काल में हुई। जिसका प्रसार अनेक शताब्दियों तक रहा। लेकिन इस काल के विषय में किसी प्रकार का निश्चय जब तक उपयुक्त प्रमाणों की उपलब्धि न हो केवल कल्पना के आधार पर नहीं किया जा सकता। सत्य केवल इतना है कि वैदिक साहित्य भारतीय मनीषा की प्रथम अभिव्यक्ति है। इसने परवर्ती धर्म, समाज व्यवस्था नीति एवं मनुष्य की आध्यात्मिक कल्पनाओं पर पूर्ण प्रभाव डाला है।

उपनिषद् भारतीय ज्ञान तथा दार्शनिक विचारधाराओं के मूल ग्रन्थ हैं। ऐसा अनुमान है कि जिज्ञासु अपनी शंकाओं को लेकर ऋषियों के समक्ष जाते थे और ऋषिगण एक-एक करके उनकी शंकाओं का तर्क तथा अपनी अनुभूति के आधार पर समाधान करते थे जिससे उन जिज्ञासुओं को परमपद के वास्तविक स्वरूप का परिचय मिलता था। ऋषियों की ये विचारधारायें ही उपनिषद् के विषय हैं। जिज्ञासु की शंकायें तथा उनके समाधान किसी एक क्रम से नहीं होते थे अतएव उनमें परवर्ती शास्त्रों के समान कोई भी विचार हमें क्रमबद्ध रूप से नहीं मिलता है। फिर भी उपनिषद् साहित्य समस्त भारतीय दर्शन के उत्स हैं।

यद्यपि उपनिषद् काल की रचनाओं में किसी प्रकार का क्रम तथा वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है-तथापि कालान्तर में विषयों के आधार पर उनके वर्णित तत्वों के स्वरूप सूत्रों के रूप में मिलता है। इन सूत्रों की रचना का मुख्य कारण बौद्ध मतानुयायियों का वेदों के ऊपर आक्षेप प्रतीत होता है। विषयों का वर्गीकरण प्रायः तभी होता है जब उनके समझने में कठिनाई हो अथवा कोई अन्य प्रायोजन हो। बौद्धों द्वारा वैदिक धर्म के विरुद्ध किये गये आक्षेपों के

समाधान हेतु वैदिक धर्मावलम्बियों ने विविध सामग्री एकत्र की। तब भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से तत्त्वविचारों को क्रमबद्ध करने के प्रयत्न होने लगे। इन विचारों के समन्वय की एक दृष्टि बतलायी गयी। उससे एक सोपान परम्परा का निर्माण किया गया। फिर प्रतिपाक्षियों के साथ तर्क-वितर्क करने की तैयारी की गयी। परवर्ती दर्शनिक सूत्रों के निर्माण का यही कारण था। बौद्धों के साथ तर्क करने के लिये गौतम ने न्याय सूत्र की रचना की। वेदों के अभिप्राय की रक्षा करने के लिये महर्षि जैमिनी ने मीमांसा सूब बनाये। इसी प्रकार अन्य दर्शनिक सूत्रों की भी रचनायें हुईं।

सूत्रों में दार्शनिक सिद्धान्त संक्षिप्त एवं सारस्प में कह गये हैं क्योंकि उस समय गुरु और शिष्यों में विचार-विनियम प्रायः मौखिक ही हुआ करता था। अतः यह आवश्यक था कि उन सिद्धान्तों को स्मरण रखने के लिये उनका वर्णन संक्षिप्त रूप में किया जाय। बहुत काल तक यह शिक्षा प्रणाली इसी रूप में चलती रही लेकिन कालान्तर में विद्वानों को यह ज्ञात होने लगा कि परम्परागत सूत्रों के अर्थ के विषय में विभिन्न शाखाओं के अन्तर्गत मतभेद पैदा हो गये हैं। इस कारण तथा सूत्रों के अर्थ को नवीन आक्षेपों की पृष्ठभूमि पर पुनः प्रतिपादित करने के लिये आचार्यों ने भाष्यों रचनाकी। परम्परागत गुरु मुख से सुने हुये सूत्रार्थों में भेद होने के कारण अनेक भाष्यों की रचनायें हुईं। यथा-वादरायण के ब्रह्मसूत्र पर शंकर, रामानुज, मध्व, बल्लभ, निम्बकि, विज्ञानभिक्षु आदि आचार्यों के भाष्य उपलब्ध हैं। इसके बाद इन भाष्यों के अर्थ को सुदृढ़ करने के लिये तथा उनके-विरुद्ध किये गये आक्षेपों का निराकरण करने के लिये वात्रिकों तथा टीकाओं की रचना हुई। यह क्रम इतना विकसित हुआ कि टीका की टीकायें भी लिखी गयी जिन्हें टिप्पणी कहा गया और कभी-कभी इन टिप्पणियों की भी टिप्पणियाँ लिखी गयी। इस प्रकार सूत्र, भाष्य, वात्रिक, टीका, टिप्पणी ये पाँच ग्रन्थ शैलियाँ भारतीय दर्शन के विकास का इतिहास बताती हैं। इनमें से सूत्र, भाष्य और वात्रिक लिखने वाले अत्यन्त मौलिक दार्शनिक माने जाते हैं। कभी-कभी भाष्य से लेकर टिप्पणी तक को साधारणतः भाष्य के अन्दर ही कहा जाता है।

जाता है।

NOTES

1. वैदिक काल : इस काल में वैदिक मन्त्रों, ब्राह्मणों एवं उपनिषदों की रचनायें हुईं।

2. महाकाव्य काल : इस काल में रामायण और महाभारत की रचनायें हुईं। भारतवर्ष के प्रमुख दार्शनिक काव्य श्री मद्भगवद्गीता की रचना भी इसी काल में हुई। बौद्ध और जैन धर्मों का आविष्टीव तथा भाष्य काल में प्रतिपादित सिद्धान्तों की मूल विचारधाराओं का विकास भी इसी काल में हुआ था।

3. सूत्र काल इस काल में षड्दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। गौतम ने न्यायसूत्र, कणाद ने वैशेषिक, कपिल ने साँखसूत्र, पतंजलि ने योगसूत्र जैमिनी ने मीमांसा सूत्र तथा वादरायण ने वेदान्त सूत्र की रचना की।

4. भाष्य काल इस काल में आचार्यों ने सूत्रों पर भाष्यों की रचना की। तथा उनके अनुयायियों ने उन पर वात्रिक तथा टीकायें लिखे। इसी कारण एक ही सूत्र पर अनेक भाष्य, वात्रिक तथा टीकायें बन गये। इस काल में दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वरूप भलीभूति निखर आया तथा अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों की रचना हुई। इस काल का दर्शन साहित्य जटिल एवं दुष्ट तर्कों से परिपूर्ण है। उनके पर्यावलोकन से प्रमाणित होता है कि इस काल में भारतीय तर्क पञ्चति अत्यन्त उच्च शिखर पर पहुँच गयी थी। इस काल में अन्यान्य स्वतन्त्र रचनायें भी हुईं। जैसे हरिभद्र का षड्दर्शन समुच्चय और माधवाचार्य का सर्वदर्शन संग्रह आदि। किन्तु यह विभाजन वास्तव में प्राचीन भारतीय दर्शन का है। इससे भी आगे भारतीय दर्शन का विकास आज तक हुआ है और हो रहा है। प्राचीन भारतीय दर्शन से भिन्न एक नया स्वर आधुनिक भारतीय भाषाओं में सन्तवाणियों ने दिया है उनके दर्शन को सन्तमत कहा जाता है। इस दर्शन का प्रभाव शाश्वत है और इसमें तमिल के आलवार भक्तों से लेकर रमण महर्षि तथा महर्षि अरविन्द तक संत तथा ऋषिगण शामिल हैं। इस परम्परा के सन्तों में युगान्तकारी प्रभाव कबीर, नानक, तुलसीदास तथा नाभादास का रहा है।

4.2.2 वैदिक साहित्य

“मन्त्र ब्राह्मणयोः वेदनामधेयं” मन्त्र साहित्य और ब्राह्मण मिलकर वेद कहलाते हैं। वेद का शास्त्रिक अर्थ ज्ञान है। वेद भारतीय दर्शन के मूल कहे जाते हैं। पर इनके काल के विषय में विद्वानों में परस्पर वैचारिक असहमति है। मैक्समूलर ने अपनी पुस्तक “History of Ancient Literature” में वेदों का काल 1200 ईसा पूर्व बताया है। तिलक और याकोरी ने ज्योतिष के साक्ष्य पर अपनी स्वतन्त्र गवेषणाओं के आधार पर वेदों का काल क्रमशः 6000 वर्ष और 4500 वर्ष ईसा पूर्व बताया है। प्रो. ब्लूमफील्ड वैदिक युग का प्रारंभ 2000 ई.पू. मानते हैं। विण्टर निट्ज के अनुसार वेदों की रचना 2500 से 1500 ई.पू. हुई होगी। काल के विषय में इतनी भिन्नता होते हुये भी विद्वानों की वह सामान्य मान्यता है कि वेदों की रचना, पाश्व महावीर एवं गौतम बुद्ध के पूर्व पूर्णस्लेषण सम्पन्न हो चुकी थी। अवएव इनका रचना काल लगभग 750 ई.पू. के पहले किसी भी समय निर्धारित किया जा सकता है। वत्रमान समय में इससे अधिक निश्चयात्मक रूप में कहना सम्भव नहीं है।

वेदों के चार भाग : वेद किसी एक ग्रन्थ का नाम नहीं है वरन् सम्पूर्ण साहित्य राशि का नाम है। इसके चार भाग हैं- 1. संहिता, 2. ब्राह्मण, 3. आरण्यक 4. उपनिषद।

1. संहितायें : संहितायें चार हैं- 1. ऋक् संहिता, 2. यजुष संहिता, 3. साम संहिता, 4. अर्थर्वसंहिता। संहितायें पद्य काव्य हैं जो विभिन्न देवताओं की स्तुति के लिये निर्मित की गयी हैं किसी यज्ञ सम्पादन के लिये चार पुरोहितों की आवश्यकता होती है। प्रथम होता-जो देवताओं के आवाहन के लिये उनकी प्रशंसा में मंत्रों उच्चारण करता है। द्वितीय-उद्भाता जो देवताओं को प्रसन्न करने व उनका मनोरंजन करने के लिये मन्त्रों को संगीत स्वर में गाता है। तृतीय अध्वर्युजो कर्मकाण्ड के नियमों के अनुसार यज्ञ में आहुति देता है और चतुर्थ ब्रह्मा जो वैदिक यज्ञों का सामान्य निरीक्षण करता है। होता की आवश्यकताओं की सिद्धि के लिये ऋक् संहिता, उद्भाता हेतु साम संहिता, अध्वर्यु के लिये यजुष

NOTES

संहिता और ब्रह्मा की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये अथर्व संहिता का प्रणयन किया गया।

2. ब्राह्मण : ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का विधान, यज्ञ के लिये अनुकूल द्रव्य, यज्ञ सम्बन्धी आख्यापिका इत्यादि उपलब्ध होते हैं। मन्त्र छन्दबद्ध रचना है जब ब्राह्मण गद्यात्मक होता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ की विधि की प्रधानता है। विधि याज्ञिक अनुष्ठान का उपदेश है। इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि यज्ञ का विधान का कैसे हो, यज्ञ में किन साधनों का उपयोग किया जाय। यज्ञ के अधिकारी कौन है? इत्यादि। ब्राह्मण ग्रन्थों में इनकी विशद विवेचना है। शतपथ ब्राह्मण में विधि-विधान का बड़ा विशद विवेचन है।

3. आरण्यक् : सामान्यतः ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग है इनका यह नाम सम्भवतः अरण्य में निवास करने वाले वानप्रस्थ मुनियों के द्वारा उच्चरित होने के कारण या अरण्य की शान्ति में शिष्यों को उपदिष्ट होने के कारण पड़ा। इनमें यज्ञों का प्रतीकात्मक विवेचन एवं पौरोतित्योन्मुख दर्शन प्राप्त होता है। आरण्यक् में ब्राह्मण ग्रन्थों के कर्मकाण्ड और उपनिषदों के ज्ञान-काण्ड के बीच सेतु स्थापित किया गया है।

4. उपनिषद : आरण्यकों के अन्तिम भाग को उपनिषद कहा जाता है। उपनिषद वेद के दार्शनिक चिन्तन की परिणति को प्रस्तुत करते हैं। इन्हें वैदिक साहित्य का चरम भाग कहा जाता है। आत्मानंद की प्राप्ति आत्मज्ञान से सम्भव है। आत्मज्ञान से ही भव-बन्धन का विनाश सम्भव है। अतः जन्म और मरण के चक्र से छुटकारा पाकर आत्मानंद की प्राप्ति ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है।

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार उपनिषदों की संख्या 108 बतलायी गयी है। इनमें 11 उपनिषद प्रमुख हैं ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर, वृहमारण्यक् आदि।

4.2.3 महाकाव्य काल : महाभारत (भगवद्गीता)

गीता महाभारत के शांतिपर्व का अंश है। सम्पूर्ण वेदों का सार गीता के सात सौ श्लोकों में संग्रह किया गया है। गहनतम भावों की सरलतम अभिव्यक्ति

गीता की सबसे बड़ी विशेषता है। गीता का महात्म्य बतलाते हुये स्वयं भगवान कहते हैं कि गीता मेरा हृदय है। गीता मे हृदय पार्य!!

गीता का साहित्य बड़ा विशाल है। प्रायः इस देश के सभी आचार्यों ने गीता पर भाष्य लिखे हैं। और गीता के तात्पर्य को बतलाने का प्रयास किया है। सभी आचार्य अपने-अपने दृष्टिकोण से गीता की व्याख्या करते हैं सबकी व्याख्या प्रामाणिक है परन्तु किसी भी आचार्य की व्याख्या अन्तिम नहीं। श्री शंकराचार्य छारा विरचित ‘शांकर गीता भाष्य’ संभवतः सबसे प्राचीन भाष्य है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने गीता की अद्वैतवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। श्री आनंदज्ञान ने शांकर गीता भाष्य पर ‘भगवद्गीता भाष्य विवरण’ नाम की टीका लिखी है और रामानंद ने ‘भगवद्गीता भाष्य व्याख्या’ नामक ग्रन्थ लिखा है। आचार्य शंकर के बाद रामानुज के महान गुरु यामुनाचार्य ने गीतार्थ संग्रह नामक ग्रन्थ लिखा जिसमें गीता का सार प्रस्तुत किया गया है। विख्यात वैष्णव आचार्य श्री रामानुज ने ‘गीताभाष्य’ लिखा है। जिसमें उन्होंने विभिष्यद्वैत मत का प्रतिपादन किया है। श्री मध्वाचार्य या आनंदर्तीथ ने गीता पर ‘गीताभाष्य’ लिखा है। राघवेन्द्र स्वामी ने गीता पर तीन ग्रन्थ लिखे हैं- गीता विवृत्ति, गीतार्थ संग्रह और गीतार्थ विवरण। बल्लभाचार्य और निष्वाकीचार्य ने भी गीता पर भाष्य लिखा है। इनके अतिरिक्त आंजनेय ने हनुमद भाष्य, कल्याणभट्ट ने रसिक रजिनी, जगद्धर ने गीता-प्रदीप, जयराम ने गीता सारथि संग्रह बलदेव विद्या भूषण ने गीता भूषण भाष्य, मक्षरानाथ ने गीता प्रकाश, दन्तात्रेय ने प्रबोध चन्द्रिका, श्रीघर स्वामी ने सुबोधिनी सदानंद व्यास ने भाव-प्रकाश, सूर्यपण्डित ने परमार्थ प्रथा, नीलकंठ ने भावदीपिका आदि भाष्य लिखे हैं। इस प्रामाणिक भाष्यों के अतिरिक्त गीता के सामान्य तात्पर्य पर भी अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये हैं।

आजकल तो प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं में गीता पर प्रामाणिक भाष्य उपलब्ध है जैसे-वैगला, गुजराती, मराठी, तमिल, तेलगू आदि सभी भाषाओं में गीता की व्याख्या उपलब्ध है। इनके अतिरिक्त विदेशी भाषाओं में भी गीता का अनुवाद और गीता पर भाष्य उपलब्ध है। सच तो वह है कि गीता पर ग्रन्थ

गणना की ही नहीं जा सकती। केवल संस्कृत भाषा में ही इसपर 1500 व्याख्या और टीका सम्मवतः लिखी जा चुकी है।

4.2.4 जैन एवं बौद्ध दर्शन साहित्य

जैनियों के अनुसार जैन मत के प्रवत्रक चौबीस तीर्थकर थे। परम्परा के अनुसार ऋषभदेव को जैन धर्म के आदि प्रवत्रक, प्रथम तीर्थकर होने का गौरव प्राप्त है। पार्श्वनाथ 23वें तथा महावीर स्वामी 24वें तथा अन्तिम तीर्थकर के रूप में प्रसिद्ध हैं। अन्य 22 तीर्थकर प्रागैतिहासिक युग के हैं। सम्पूर्ण जैन धर्म तथा दर्शन ऐसे ही 24 तीर्थकर की वाणी या उपदेश का संकलन है। तीर्थकरों को 'जिन' भी कहा जाता है। इन्हें 'जिन' नाम इसलिये दिया गया है कि इन्होंने रागद्वेष को जीतकर निर्वाण प्राप्त किया है। जैनियों का यह विश्वास है कि बंधनग्रस्त सभी जीव जिनों के दिखलाये मार्ग पर चल सकते हैं और उनकी तरह पूर्ण ज्ञान, पूर्ण शक्ति तथा पूर्ण आनंद प्राप्त कर सकते हैं।

कालान्तर में जैनियों के दो सम्प्रदाय हो गये-श्वेताम्बर तथा दिगम्बर। उल्लेखनीय है कि इन सम्प्रदायों में मूल सिद्धान्तों का भेद नहीं है। बल्कि उनका भेद आचार-विचार सम्बन्धी कुछ गौण बातों को लेकर हैं। दोनों ही सम्प्रदायों के लोग तीर्थकरों के उपदेशों को समान रूप से मानते हैं। अंतर विशेष रूप से उनमें यह है कि श्वेताम्बर अपेक्षाकृत उदार होते हैं जबकि दिगम्बर अपने धर्म के प्रति अत्यन्त कट्टर होते हैं। श्वेताम्बर जहाँ सफेद वस्त्र धारण करते हैं वही दिगम्बर संन्यासी वस्त्रों का भी प्रयोग उचित नहीं मानते। वे हमेशा नंगे ही रहते हैं। दिगम्बरों के अनुसार पूर्व ज्ञानी महात्माओं को भोजन की आवश्यकता नहीं होती। साथ ही जब तक स्त्रियाँ पुरुष योनि में जन्म न ले लें तब तक वे मुक्ति नहीं पा सकती। लेकिन श्वेताम्बर लचीला रुख अपनाते हुये इन विचारों को स्वीकार नहीं करते।

जैन दर्शन का साहित्य अत्यन्त समृद्ध है यह अधिकांशतः प्राकृत भाषा में है। आज जो भी जैन साहित्य उपलब्ध हैं वह भगवान् महावीर का उपदेश है। महावीर ने जो भी उपदेश दिया उसको उनके गणघरों ने ग्रन्थ रूप में रचा।

महावीर के प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति थे। उन्होंने महावीर के उपदेशों को 12 अंग और चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया। पाठकों की सुविधा के लिये श्वेताम्बर और दिगम्बर मतों का पृथक-पृथक विवेचन निम्नानुसार वर्णित है।

NOTES

दिगम्बर साहित्य :

महावीर स्वामी के निर्वाण के बाद केवल तीन केवलज्ञानी तथा पाँच श्रुतकेवली हुये। इनमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रयाहु थे। इनके बाद षट्खण्डागम नामक सूत्रग्रन्थ की रचना हुई। इसी समय गुणधर आचार्य ने 223 गाथाओं में कषायप्राभृत ग्रन्थ की रचना की। इन दोनों ग्रन्थों पर अनेक टीकायें लिखी गयी। ईसा की प्रथम शताब्दी में कुन्दकुन्द नामक आचार्य ने तीन ग्रन्थ लिखे-समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय।

श्वेताम्बर साहित्य :

इस सम्प्रदाय का साहित्य 6 भागों में विभक्त है-ग्यारत अंश, बारह उपांग, दस प्रकीर्णक, छः वेदसूत्र, दो सूत्र और चार मूल सूत्र।

उक्त के अलावा कालान्तर में संस्कृत भाषा में बहुत सारे ग्रन्थ लिखे गये। आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य श्री उमास्वामी द्वारा रचित ‘तत्वार्थसूत्र’ जैन दर्शन का पहला संस्कृत ग्रन्थ है। अकलंकदेव जैन न्याय के प्रकांड पंडित थे। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिन्य, लभीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह आदि। इन ग्रन्थों पर अनन्तवीर्य, वादिराज और प्रमाचंद नामक आचार्यों ने अपनी-अपनी व्याख्यायें लिखी हैं। माणिक्यनन्दि का ‘परीक्षा मुख’ जैन न्याय का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर आचार्य प्रभाचंद ने ‘प्रमेय कमल मात्रण्ड’ नामक व्याख्या ग्रन्थ लिखा है।

इनके अतिरिक्त सिद्धसेन दिवाकर का न्यायवतार, नेमिचंद्र का दृष्ट्य संग्रह, हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा, मल्लिसेन की स्याद्वादमंजरी, यथोविजय का तर्क परिभाषा प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ है।

बौद्ध दर्शन साहित्य :

बौद्ध धर्म के प्रवत्रक गौतमबुद्ध थे महात्मा बुद्ध ने अपने जीवन काल में न तो किसी ग्रन्थ की रचना की और न करायी ही। वे एक सच्चे धर्मोपदेशक

थे। लोगों को सही मार्ग दिखाना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था अतः किसी धार्मिक या दार्शनिक ग्रन्थ की रचना करने में उनकी स्वाभाविक असुविधा थी। वे तत्कालीन जनसाधारण की भाषा पालि में अपने सीधे-सादे उपदेशों को सुनाते थे। कहा जाता है कि महात्मा बुद्ध के वचनों और उपदेशों का संकलन उनके निकटतम शिष्यों द्वारा त्रिपिटकों में ही हुआ है। बुद्ध के निजी उपदेशों का जो कुछ भी ज्ञान हमें आजकल प्राप्त है वह त्रिपिटकों से ही हुआ है। त्रिपिटकों की भाषा पालि है। त्रिपिटक तीन हैं-सुन्त पिटक, विनय तथा अभिधम्म पिटक। सुन्त पिटक में बुद्ध के वार्तालाप और उपदेशों का संकलन में है। इसमें बुद्ध कालीन धर्म, समाज, सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, इतिहास आदि सभी का उल्लेख है। सुन्तपिटक पाँच निकायों में विभक्त हैं-दीर्घ निकाय, मञ्ज्ञम निकाय, संयुक्त निकाय, अंगुन्तर निकाय तथा खुदक निकाय। खुदक निकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं। अभिधम्म पिटक-इसमें बुद्ध के दार्शनिक विचारों का संग्रह है। इसमें सात ग्रन्थ हैं। विनय पिटक-यह मुख्यतया आचार सम्बंधी नियमों का संकलन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में भिक्षुक बनने से लेकर भिक्षुक के चरित्र सम्बंधी सभी नियमों का वर्णन है।

कालांतर में बुद्ध के अनुयायियों की संख्या बहुत बढ़ गयी। धार्मिक मतभेद के कारण बौद्ध धर्म दो प्रधान शाखाओं-हीनयान के प्रमुख ग्रन्थ हैं। मद्यपान का दार्शनिक विवेचन संस्कृत में हुआ है अतः इसके ग्रन्थों की भाषा संस्कृत है। इनमें प्रमुख ग्रन्थों का विवरण निम्नानुसार है-नागार्जुन की माध्यमिक कारिका, आयदेव का चतुःशतक, चन्द्रकीत्रि की माध्यमिक वृत्ति शान्तिदेव का बोधिचर्यावतार, असंग का महायानसूत्रालंकार बसुबन्धु की विज्ञप्ति मात्र सिद्धि, विड्नाश का प्रमाण समुच्चय आलम्बन परीक्षाद्व धर्मकीत्रि का न्याय बिन्दु, मनोरथ नंदी की प्रमाणवत्रिकवृत्ति, शान्तिरक्षित का तत्वसंग्रह आदि।

4.2.5 सूत्रकाल : न्याय और वैशेषिक

न्याय दर्शन के प्रवत्रक महर्षि गौतम थे। वे गौतम तथा अक्षवाद के नाम से भी प्रसिद्ध हैं अतः न्याय का दूसरा नाम अक्षपाद दर्शन भी है। न्याय दर्शन

में प्रधानतः शुद्ध विचार के नियमों तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के उपायों का वर्णन किया गया है।

जहाँ तक न्याय दर्शन के साहित्य का प्रश्न है गौतम का न्याय सूत्र न्याय दर्शन का मूल ग्रन्थ है। न्यायसूत्र में पाँच अध्याय हैं। न्याय सूत्रों पर महर्षि वात्स्यापन द्वारा विरचित वात्स्यायन भाष्य है। इसका दूसरा नाम न्याय भाष्य ही है। इस ग्रन्थ पर अनेक टीकायें हैं जिनमें श्री सुदर्शनाचार्य की टीका श्री गंगानाथ ज्ञा की खदोत टीका प्रसिद्ध है। न्याय भाष्य पर श्री भरद्वाज उद्योतकर का 'न्यायवात्रिक' नामक अत्यंत प्रशंसनीय ग्रन्थ हैं। न्यायवात्रिक पर श्री वाचस्पति मिश्रकृत 'न्यायवात्रिक तात्पर्य टीका' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में बौद्ध आक्षेपों का उत्तर युक्तिपूर्ण ढंग से दिया गया है। 'न्यायकुसुमांजलि' उदयनाचार्य द्वारा प्रणीत कालजयी रचना है। जयंतभट्ट की न्यायमंजरी भी न्यायदर्शन का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में जयंतभट्ट ने बौद्ध मत का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है।

12वीं शताब्दी से नव्यन्याय का प्रारम्भ माना जाता है। इसके सर्वप्रथम आचार्य गणेशोपाध्याय है। 'तत्त्वचिंतामणि' इनका अभूतपूर्व ग्रन्थ है। यह पण्डितों का परीक्षा ग्रन्थ है इस पर टीकाओं का अंत नहीं है। संभवतः न्यायशास्त्र में इतनी टीकायें किसी भी ग्रन्थ पर उपलब्ध नहीं।

इस ग्रन्थ में एक विशेष शैली का प्रयोग किया गया है। इसकी शैली इतनी लोकप्रिय बन गयी कि तत्त्वचिंतामणि के बाद जो भी ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये उन पर नव्य न्याय की शैली का प्रभाव पड़ा। तत्त्वचिंतामणि की तीन व्याख्यायें प्रसिद्ध हैं-रघुनाथ शिरोमणि की 'दीधिति'। पक्षधर मिश्र का अलोक और मथुरानाथ का रहस्य। इन तीनों ग्रन्थों पर भी अलग-अलग रूप से आचार्यों द्वारा अनेक टीकायें लिखी गयी जिन्होंने न्याय दर्शन साहित्य के विकास में अपूर्व योगदान किया।

न्याय दर्शन का उद्देश्य अन्य दर्शनों की तरह मोक्षप्राप्ति है। अर्थात् जीवन के दुःखों का किस तरह से नाश हो इसका उपाय छूँढ़ निकालना ही इसका अन्तिम उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूत्रि के लिये तत्त्वज्ञान प्राप्त करना तथा यथार्थ ज्ञान के लिये नियमों का जानना अत्यंत आवश्यक है। अतः अन्य

दर्शनों की तरह न्याय भी जीवन की समस्याओं का ही समाधान करता है। सम्पूर्ण न्याय दर्शन को चार भागों में बाँटा जा सकता है प्रथम खण्ड में प्रमाण सम्बंधी, दूसरे में भौतिक जगत सम्बंधी तीसरे में आत्म तथा मोक्ष सम्बंधी तथा चौथे में ईश्वर सम्बंधी विचारों का वर्णन किया गया है।

वैशेषिक दर्शन साहित्य :

वैशेषिक दर्शन के प्रवत्रक महर्षि कणाद है। कहा जाता है कि वे इतने बड़े संतोषी थे कि खेतों से चुने हुये अन्नकणों के सहरे ही जीवनयापन करते थे इसलिए उनका उपनाम कणाद पड़ा। इस दर्शन का उपनाम औलूक्य दर्शन भी है। किवदन्ती है कि स्वयं भगवान ने उलूक रूप में अवतीर्ण हो इन्हें पदार्थ ज्ञान कराया था।

वैशेषिक दर्शन का सर्वप्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ महर्षि कणाद का कणाद सूत्र अथवा विशेषिक सूत्र है। इस पर प्रशस्तपाद का पदार्थ धर्म संग्रह नामक प्रसिद्ध भाष्य है। प्रशस्तपाद भाष्य पर दो अत्यंत महत्वपूर्ण टीका लिखी गयी हैं पहली टीका श्री उदयनाचार्य की है जिसे किरणवली कहते हैं तथा दूसरी टीका श्रीधराचार्य की न्यायकन्दली के नाम से प्रसिद्ध है। इसके बाद वैशेषिक दर्शन का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं प्राप्त होता वरन् न्याय और वैशेषिक दोनों का सम्मिश्रण अथवा दोनों सिद्धांतों का एक ही साथ प्रतिपादन प्राप्त होता है। जैसे-बल्लभाचार्य की न्याय लीलावती, अन्नभट्ट का तर्क संग्रह, श्री केशवामिश्र की तर्कभाषा श्री शिवादित्य की सप्तपदार्थी में प्रायः न्याय वैशेषिक सिद्धांतों का युगपद विवेचन प्राप्त होता है। श्री बल्लभाचार्य की न्याय लीलावती पर अनेक टीकायें लिखी गयी हैं। इसके अलावा रुद्राचार्य की रौद्री, दिनकर की दिनकरी, पं. ज्वाला प्रसाद गौड़ की विलासिनी, नीलकंठ की नीलकंठी, गोवर्धन की तर्कभाषा प्राकाभिका, गोपीनाथ की उज्जवला, चिन्तभट्ट की तर्कभाषा प्राकशिका, श्री केशवभट्ट की तर्कदीपिका, नारेश भट्ट की मुक्तिमुक्तावली टीका वैशेषिक दर्शन साहित्य के विकास में अप्रतिम योगदान करती है।

4.2.6 साँख्य एवं योग दर्शन साहित्य :

महामुनि कपिल द्वारा पूर्वित साँख्य दर्शन समस्त आस्तिक दर्शनों में प्राचीनतम है। इसकी प्राचीनता इसी तथ्य से प्रमाणित हो जाती है कि श्रुति, स्मृति, पुराण, रामायण, महाभारत आदि पुरातन कृतियों में साँख्य योग के अनेकों दृष्टांत मिलते हैं।

NOTES

साँख्य दर्शन का मूलग्रन्थ कपिल का तत्वसमाज है। यह अत्यन्त ही संक्षिप्त और सारगर्भित है। अतः साँख्य शास्त्र का मर्म विस्तारपूर्वक समझाने के लिये उन्होंने 'साँख्यसूत्र' नामक विशद ग्रन्थ की रचना की। महार्षि कपिल की नित्य परम्परा में आसुरि तथा पंचशिखाचार्य के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आप दोनों ने साँख्य दर्शन पर सरल ग्रन्थ लिखे थे परन्तु बत्रमान में वे अनुपलब्ध हैं या काल के रति में समा चुके हैं। आज साँख दर्शन पर जो प्राचीनतम एवं प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध है वह है ईश्वर कृष्ण की साँख्य कारिका। इस ग्रन्थ में 70-72 कारिकायें हैं। ये कारिकायें संक्षिप्त तथा सारगर्भित होने के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इनकी लोकप्रियता इसी तथ्य से प्रमाणित हो जाती है इस ग्रन्थ पर ढेर सारी टीकाये लिखी गयी। साँख्यकारिका पर माष्वृति, गौडपादभाष्य जयमंगला, साँख्यतत्वकोमुदी तथा युक्त दीपिका आदि कई प्राचीन टीकाये हैं। इनके अतिरिक्त साँख्यतत्वसंत, साँख चन्द्रिका एवं तत्वप्रभा आदि अवीचीन टीकायें भी प्रसिद्ध हैं। सभी टीकाओं में तत्वकौमुदी तथा युक्तिदीपिक अधिक पठन-पाठन में हैं। इनके अतिरिक्त भी साँख्य दर्शन के कई महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं जैसे अनिरुद्ध की साँख्यसूत्रवृत्ति, महादेव का साँख्यसूत्र विस्तार, नागेश की लघुसाँख सूत्रवृत्ति। विज्ञानमिक्षु का साँख्य प्रवचन भाष्य तथा साँख्य सार आदि। संस्कृत के अतिरिक्त अंग्रेजी और हिन्दी में भी साँखदर्शन पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। योग दर्शन के पूर्णता महार्षि पतंजलि है इसी कारण इस दर्शन को पातंजल दर्शन भी कहा जाता है।

इस दर्शन का सर्वप्रथम और प्रामाणिक ग्रन्थ योगसूत्र या पातंजल सूत्र है। यह चार भागों में विभक्त है जिसमें प्रत्येक भाग को पाद कहते हैं। समाधिपाद,

साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। योग सूत्रों पर व्यासमुनि का भाष्य है जिसे व्यासभाष्य या योगभाष्य कहते हैं। व्यासभाष्य पर दो साँख्यायें अति प्रसिद्ध हैं। पहली व्याख्या श्री वाचस्पति मिश्र कृत 'योगतत्व वैशारदी' है तथा दूसरी व्याख्या श्री विज्ञानभिक्षुकृत 'योग वात्रिक' है। इनके अतिरिक्त योगसूत्र पर भोजवृत्ति, अनिरुद्धवृत्ति तथा नागेशवृत्ति आदि अनेक वृत्तियाँ हैं। योग दर्शन का साहित्य अन्य दर्शनों की भाँति विशाल नहीं है। तथापि यह अत्यन्त वैज्ञानिक दर्शन है।

साँख्य दर्शन में वर्णित प्रमुख दार्शनिक तत्त्व :

साँख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है जो पुरुष और प्रकृति दो मूलतत्वों में विश्वास करता है। यह जगत कार्य-कारणों का संतान या प्रवाह है। इसका मूलकारण अवश्य होना चाहिये। आत्मा या पुरुष को हम किसी कार्य का कारण नहीं मान सकते हैं क्योंकि यह कारण-कार्य शृंखला से परे नित्य चैतन्य स्वरूप है। कारण-कार्य शृंखला में आगे बढ़ते हुये हम विचार करते हैं कि जगत का मूलकारण ऐसा होना चाहिये जिससे न केवल स्थूल पदार्थों (मिट्टी, पानी, पेड़, पहाड़) की ही उत्पत्ति संभव हो बल्कि सूक्ष्म वच, मन, बुद्धि, अहंकार जैसे सूक्ष्म तत्वों की भी उत्पत्ति संभव हो।

संसार का मूलकारण ऐसा होना चाहिये जो जड़ होने के साथ ही साथ सूक्ष्माविसूक्ष्म हो जो अनादि, अनंत और व्यापक रूप से जगत के पदार्थों का कारण हो, जिससे विषय उत्पन्न होते रह सकें। इसी मूल कारण को साँख्य दर्शन में प्रकृति की संज्ञा दी जाती है। समस्त विषयों का अनादि मूल स्रोत होने के कारण यह प्रकृति नित्य और निरपेक्ष है। यही वह तत्त्व है जिसके द्वारा संसार की सृष्टि और लय का चक्र प्रवाह निरन्तर चलता रहता है।

सत्त्व रज और तम से तीन गुण प्रकृति में रहते हैं। "गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः" इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण ये मूलदृष्ट्य प्रकृति के उपादान तत्त्व हैं। ये गुण इसलिये कहलाते हैं कि ये रससी के तीनों गुणों (रेशों) की तरह आपस में मिलकर पुरुष के लिये बन्धन का कार्य करते हैं।

प्रकृति की सत्ता सिद्ध करने के लिये साँख्यकारिका में निम्नलिखित प्रमाण दिये गये हैं-

भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तिवः प्रवृत्तेश्च।

कारण कार्यं विभागाद्विभागात् वैश्वरुपस्य।

NOTES

भेदानां परिमाणात् : संसार के समस्त विषय-बुद्धि से लेकर पृथ्वी पर्यन्त देश काल से सीमित और अपने पूर्ववर्ती कारण पर आश्रित है। इसलिए उनका मूल कारण ऐसा होना चाहिये जो देशकाल से अपरिच्छिन्न और निरपेक्ष हो। अन्यथा मूल कारण की खोज में अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। यह मूलकारण प्रकृति है।

समन्वयात् : संसार के समस्त विषयों का यह सामान्य धर्म है कि वे सुख-दुःख या मोह (उदासीनता) उत्पन्न करने वाले हैं। संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति वाले हैं। इससे सूचित होता है कि उनके मूलभूत कारण में भी ये तीनों गुण मौजूद रहना चाहिये।

शक्तिवः प्रवृत्तेश्च : सभी कार्य ऐसे कारणों से उत्पन्न होते हैं जिनमें ये (कार्य) अव्यक्त या बीजात्मक से निहित थे असमर्थ कारण से किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जिस प्रकार घर पर तेल आदि को उत्पन्न करने वाला मृत्पिण्ड तन्तु तथा तिल है उसी प्रकार महत् आदि को उत्पन्न करने वाला भी अव्यक्त (प्रकृति) है।

कारणकार्यं विभागात् : कार्य कारण से उत्पन्न होता है और नष्ट होने पर पुनः उसमें बिलीन हो जाता है। इस तरह प्रत्यक्ष विषय अपने-अपने विशिष्ट कारणों से उत्पन्न होते हैं। वे विशिष्ट कारण भी अपर सामान्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। इस तरह कारण-कार्य श्रृंखला में आगे बढ़ते हुये हम एक ऐसे मूलकारण पर पहुँचते हैं। जो समस्त वस्तुओं का मूलकारण हैं परन्तु उसका कोई कारण नहीं है। यह मूलकारण प्रकृति है।

अविभागात् वैश्वरुपस्य इसी प्रकार प्रलयावस्था में समस्त वस्तुयें अपने मूलकारणों में मिल जाती हैं, समाहित हो जाती है। पृथ्वी आदि तन्मात्र में, तन्मात्र अहंकार में, अहंकार वृद्धि में और बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है।

इस प्रकार अन्ततोगत्वा प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है क्योंकि सबका लय उसी में होता है परन्तु उसका लय किसी में नहीं होता।

उपरोक्त प्रमाणों से प्रकृति की सत्ता सिद्ध है।

पुरुष (आत्मा) का स्वरूप :

द्वैतवादी सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति, दो मूलतत्त्व स्वीकार किये गये हैं। ईश्वररकृष्ण की सांख्यकारिका में पुरुष के स्वरूप पर निम्नवत् प्रकाश डाला गया है-पुरुष साक्षीद्व निस्त्रैगुण्य, माध्यस्य, उदासीन, दृष्टा तथा अकर्ता है। साक्षी पुरुष चेतन है। अतः विषयों को देखने वाला दृष्टा है। यह प्रकृति की परिधि से परे और शुद्ध चैतन्य स्वरूप है। किसी भी स्थिति में आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती है। वह निष्क्रिय और अविकारी होता है। वह स्वयं भू नित्य और सर्वव्यापी सत्ता है जो सभी विषयों से असंप्रकृत और रागद्वेष से रहित है। जितने कर्म या परिणाम हैं जितने सुख या दुःख हैं वे सभी प्रकृति और उसके विकायें (जैसे-शरीर, मन, बुद्धि आदि) के धर्म हैं। कत्रव्य और चैतन्य दोनों विपरीत हैं। प्रकृति गुणों के कारण कर्त्ता और पुरुष निर्गुण होने के कारण अकर्ता है। आत्मा को शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि समझ लेना सरासर भ्रम है। तब ऐसे अज्ञान के कारण पुरुष अपने को शरीर, इन्द्रिय, मन या बुद्धि समझ लेता है तब उसे आभासित होता है कि वह कर्म या परिवर्तन के प्रवाह में पड़कर नाना प्रकार के दुःखों के दलदल में फँस गया है।

पुरुष के अस्तित्व के लिये प्रमाण :

सांख्य कारिका में पुरुष के अस्तित्व के लिये निम्नलिखित प्रमाण दिये गये हैं-

संघत परार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठनात्।

पुरुषोस्ति भोक्तुभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।।

1. संसार के सभी संघात (सावयव) पदार्थ परार्थ (दूसरों) के लिये हैं। ये जिनके उद्देश्य के साधन हैं वे अचेतन नहीं हो सकते। क्योंकि अचेतन का कोई उद्देश्य नहीं होता है। अतः संघातों के अतिरिक्त चेतन पुरुष अवश्य है।

2. जो भी संघात होगा वह त्रिगुण अविवेकी होगा। पुरुष संघात से भिन्न है अतः वह निर्गुण विवेकी चेतन है। तात्पर्य यह है कि त्रिगुणादि से भिन्न भी कोई वस्तु है जो संघातरूप नहीं है वही पुरुष है।

NOTES

सभी जड़ द्रव्य किसी चेतन सत्ता के द्वारा ही नियन्त्रित या संचालित होते हैं जैसे-मशीन तभी कार्य करती है जब उसकी गतिविधि का नियामक कोई कारीगार रहता है। इसी तरह जड़, प्रकृति तथा उसके विकार बिना पुरुषों या सहायता के सृष्टि रचना नहीं कर सकते। उनकी क्रियाओं का निर्देशिक चेतन पुरुष आवश्यक है। यही पुरुष या आत्मा है।

संसार की सभी वस्तुयें भोग्य हैं। इनका अपने लिये कोई उपयोग नहीं। जैसे षट्टरस से सम्पन्न व्यंजन इत्यादि दूसरों के भोग के लिये हैं। यदि उनका कोई चेतन भोक्ता (भोग करने वाला) नहीं रहें तो फिर उसका भोग कैसे संभव होगा?

जगत में कम से कम कुछ पुरुष ऐसे हैं जो दुःखों के चक्र से मुक्ति पाने के लिये वास्तविक प्रयत्न करते हैं। सांसारिक विषयों के लिये यह संभव नहीं क्योंकि वे स्वतः दुःख के कारण होते हैं न कि उनकी निवृत्ति के। इसलिये दुःखमय जड़ जगत से परे आत्मा के अस्तित्व को मानना आवश्यक है। नहीं तो मोक्ष की अर्थकता क्या होगी? जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति का क्या अर्थ रह जायेगा? इससे भी पुरुष या आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

जगत की सृष्टि या विकास :

पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत की सृष्टि होती है। जब प्रकृति पुरुष के संसर्ग में आती है तभी संसार की उत्पत्ति होती है। अकेला पुरुष सृष्टि नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्क्रिय है। इसी तरह अकेली प्रकृति सृष्टि नहीं कर सकती है क्योंकि वह जड़ है। सृष्टि के पूर्व तीनों गुण साम्यावस्था में रहते हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग होने से गुणों की साम्यावस्था में विकार उत्पन हो जाता है जिसे 'गुणक्षेम' कहते हैं।

पहले रजोगुण रजो स्वभावत क्रियात्मक है परिवत्रनशील होता है-तब उसके कारण और गुणों में भी स्पन्दन होने लगता है परिणामस्वरूप प्रकृति में एक

भीषण आन्दोलन उठ खड़ा होता है। जिसमें प्रत्येक गुण दूसरे गुणों पर आधिपत्य जमाना चाहता है, क्रमशः तीनों गुणों का पृथक्करण और संयोजन होता है और न्यूनाधिक अनुपातों में उनके संयोगों के फलस्वरूप नाना प्रकार के संसारिक विषय उत्पन्न होते हैं।

पुरुष और प्रकृति के संयोग के फलस्वरूप सबसे पहले महत्त्व या बुद्धि का प्रार्द्धभाव होता है। बुद्धि के विशेष कार्य है निश्चय और अवधारणा। बुद्धि के माध्यम से ही हम किसी विषय में निर्णय लेते हैं और वतः पर उसे क्रियान्वित करते हैं। यद्यपि रज और तम की अपेक्षा बुद्धि में सत्त्व का ही आधिक्य रहता है तथापि सत्त्व गुण के परिणाम में न्यूनाधिक्य पाया जाता है। जब बुद्धि में सत्त्व गुण का प्राबल्य होता है तब उससे सात्त्विक बुद्धि के फल होते हैं धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य। परन्तु जब तमस का परिमाण बढ़ जाता है तब उस तामसिक बुद्धि से अधर्म, अज्ञान, आसक्ति आदि का प्राबल्य हो जाता है।

प्रकृति का दूसरा विकास अहंकार है जो महत्त्व का परिणाम है। बुद्धि का में और मेरा का भाव ही अंहकार है। इसी अहंकार के कारण पुरुष मिथ्या भ्रम में पड़कर अपने को कर्ता (किसी कार्य का करने वाला), कामी (इच्छा करने वाला) और स्वामी (किसी वस्तु या विषय पर अधिकार रखने वाला) समझने लगता है।

अहंकार तीन प्रकार का माना जाता है- 1. सात्त्विक 2. राजसिक 3. तामसिक। सात्त्विक अहंकार में अपेक्षाकृत सत्त्वगुण की अधिकता होती है। रजस अहंकार में रजोगुण की प्रधानता होती है। और तामस अहंकार में तमोगुण की प्रबलता है। सात्त्विक अहंकार से एकादस इन्द्रियों-पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, 2. पंच कर्मेन्द्रिय 3 मन की उत्पत्ति होती है। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं-आँख, कान, नाक, जित्वा, त्वचा। पंच कर्मेन्द्रियाँ हैं-हाथ, मुहँ, पैर, मलद्वार और जननेन्द्रिय। तामस अहंकार से पंच तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन विषयों के सूक्ष्म तत्त्व तन्मात्र कहलाते हैं। पाँच विषयों के पाँच तन्मात्र होते हैं। ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि इतना प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अनुमान के

ही द्वारा हमें उनका ज्ञान होता है। हाँ योगियों को उनका प्रत्यक्ष ज्ञान अवश्य हो जाता है।

मन आध्यात्मिक इन्द्रिय है जो कर्मान्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों का साथ देता है। मन ही उन्हें अपने-अपने विषयों में प्रेरित करता है। मन बहुत ही सूक्ष्म इन्द्रिय है परन्तु वह सावयव है। अतः एक ही साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता है।

NOTES

पंच तन्मात्रों से पंच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। वह इस प्रकार है-

1. शब्द तन्मात्र से आकाश की उत्पत्ति होती है (जिसका गुण शब्द कान से सुना जाता है।)
2. स्पर्श तन्मात्र और शब्द तन्मात्र के योग से वायु की उत्पत्ति होती है जिसके गुण हैं शब्द और स्पर्श।
3. रूप तन्मात्र और स्पर्श-शब्द तन्मात्रों के योग से जल की उत्पत्ति होती है (जिसके गुण हैं-शब्द, स्पर्श, रूप, रस)।
4. गंध तन्मात्र और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तन्मात्रों के योग से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है (जिसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध-ये पाँचों गुण पाये जाते हैं) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी इन पंच महाभूतों के विशेष गुण हैं क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।

सृष्टि का इतिहास मानों चौबोस तत्वों का खेल है जो प्रकृति से प्रारम्भ होता है और पंचभूतों से समाप्त होता है। संसार न तो परमाणुओं के अंधाधुंध संयोग का फल है न अंध कारण कार्य शक्तियों का निरर्थक परिणाम। सृष्टि एक विशेष प्रयोजन से होती है इसका उद्देश्य है नैतिक या आध्यात्मिक उन्नति का साधन होना। प्राकृतिक विकास का परम लक्ष्य है पुरुषों की मुक्ति। संसार में धार्मिक आचरण युक्त जीवन बिताने से ही पुरुषों को अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होता है।

4.2.7 मीमांसा और वेदान्त :

आस्तिक दर्शनों में मीमांसा अग्रगण्य है। कहीं-कहीं मीमांसा का तत्पर्य मीमांसा और वेदान्त दोनों अर्थ मान्य किये जाते हैं। अतः दोनों दर्शनों के पार्थक्य

और वैमेण्डय को दृष्टिगत रखते हुये मीमांसा को पूर्व मीमांसा और वेदान्त के लिये उन्नर मीमांसा शब्द व्यवहृत होने लगा। पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड की पुष्टि की गयी है तथा वैदिक मन्त्रों की योगपरक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। वस्तुत मीमांसा दर्शन के दो मुख्य विषय हैं-

1. कर्मकाण्ड की विधियों में असंगति दूर करने तथा संगति उत्पन्न करने के लिये व्याख्या पद्धति का निर्माण करना।
2. कर्मकाण्ड के मूलभूत सिद्धांतों का तर्कनिष्ठ प्रतिपादन करना।

मीमांसा दर्शन के प्रवत्रक महर्षि जैमिनी हैं। आप द्वारा रचित ग्रन्थ मीमांसा सूत्र या जैमिनी सूत्र है। मीमांसा सूत्र, सूत्र ग्रन्थों में पहला ग्रन्थ है इसकी सूत्र संख्या 2642 है जो षड्दर्शनों में पाँच दर्शनों के बराबर है। जैमिनी सूत्र पर शबर स्वामी ने शाबर भाष्य लिखा है। मीमांसा के इतिहास में तीन आचार्यों का नाम विशेष महत्वपूर्ण है- कुमारिल भट्ट, प्रभाकर और मुरारी मिश्र बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म की रक्षा करने में कुमारिल भट्ट अद्वितीय थे। इन्होंने शाबर भाष्य पर तीन ग्रन्थ लिखे। श्लोकवाचिक, तन्त्रवाचिक ओर दुष्टीकां। कुमारिल भट्ट के टीकाकारों में पार्थसारथी मिश्र, माधवाचार्य और खण्डदेव का नाम महत्वपूर्ण है। प्रभाकर ये कुमारिल भट्ट के शिष्य थे। इनके गुरु ने इनकी अलौकिक काल्पनिक शक्ति देखकर इन्हें 'गुरु' की उपाधि प्रदान की अतः इनका मत गुरुमत कहलाता है। इन्होंने अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना के लिये शाबर भाष्य पर दो महत्वपूर्ण टीकाएं 'वृहती' और 'लक्ष्मी' लिखी। इनके सम्प्रदाय के आचार्यों में शालिकनाथ प्रमुख हैं जिन्होंने ऋजुविमला, प्रकरण पंजिका और परिमेष्ट नामक ग्रन्थ लिखे।

मीमांसा में एक नये मत का प्रतिपादन करने वालों में आचार्य मुरारी मिश्र का नाम उल्लेखनीय है जिनके मत को मुरारी मत कहा जाता है। इसके ग्रन्थ हैं-त्रिपाठी नीतिनयन और एकादशाध्यायाधिकरण। इसके अतिरिक्त मीमांसा दर्शन पर वाचस्पति मिश्र की न्यायकणिका, सुचरित्र मिश्र की काशिका, सोमेश्वर भट्ट की न्यायसुधा, सोमनाथ की मयूखमालिका लौमाक्षिभाष्कर का अर्थसंग्रह, केशव की मीमांसा बाल प्रकाश, नारायण का मानमेयादय आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं।

वेदान्त दर्शन साहित्य :

भिन्न-भिन्न कालों और स्थानों में भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं में नाना उपनिषदें रची गयी। यद्यपि उन सभी में मूलतः विचार सादृश्य है तथापि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जिन प्रश्नों की विवेचना की गयी है और उनके जो समाधान दिये गये हैं उनमें कुछ भिन्नता भी पायी जाती है। अतएव कालक्रम से आवश्यक होने लगा कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो विचार है उनका विरोध परिहार कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाय। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर बादरायण ने ब्रह्मसूत्र की रचना की। इसे वेदान्तसूत्र, शारीरिक सूत्र, शारीरिक मीमांसा या उत्तर मीमांसा भी कहते हैं। चूँकि वेदान्त सूत्र के सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त और सारगर्भित हैं परिणामस्वरूप कालान्तर में विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदान्तसूत्र को देखा और समझा। प्रत्येक आचार्य यह सिद्ध करने में लगा रहा कि उसका भाष्य शारीरिक सूत्र का एकमात्र सटीक एवं सही भाष्य है। परिणामस्वरूप हर एक भाष्यकार एक-एक सम्प्रदाय के प्रवत्रक बन गये। वेदान्त सूत्र पर लिखे गये मुख्य भाष्य और उनके बाद निम्नवत हैं-

भाष्य	भाष्यकार	वाद
शंकर भाष्य	आचार्य शंकर	अद्वैतवाद
श्रीभाष्य	श्री रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत वाद
भाष्कर भाष्य	श्री भाष्कराचार्य	भेदाभेद वाद
पूर्णप्रज्ञ भाष्य	श्री मध्वचार्य	द्वैतवाद
सौरभ भाष्य	श्री निम्वाकीचार्य	भेदाभेद वाद
अणुभाष्य	श्री बल्लभाचार्य	शुद्धाद्वैत वाद
शैवभाष्य	श्री कन्ठ	शैव विशिष्टाद्वैत वाद
श्रीकर भाष्य	श्री पति	वीरशैव विशिष्टाद्वैत वाद
गोविन्द भाष्य	बलदेव	अचिन्त्य भेदाभेद वाद

इन सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेदान्त को देखा, समझा और सुना है तथा अपने भाष्य को ही यथार्थ श्रुतिमूलक बतलाया है।

NOTES

भारतीय दर्शन के उपर्युक्त सांगोपांग विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय दर्शन साहित्य बहुत विशाल और समृद्ध है। भारतीय दार्शनिक भूमि अत्यन्त उर्वर रही है। यहाँ की भौगोलिंग और जलवायिक विभिन्नता का प्रभाव यहाँ के निवासियों की जीवनशैली और चिंतन पर पड़ा परिणामस्वरूप यहाँ न केवल विविध मतमतान्तरों की उत्पत्ति का सुयोग प्राप्त हुआ बल्कि जनजीवन में सहज व्याप्त सहिष्णुता और परस्पर पूरकता, सहजीवन के परिणामस्वरूप उन्हें निरन्तर आगे बढ़ने का अवसर भी प्राप्त हुआ। इसी कारण हम देखते हैं कि दार्शनिक जगत में किसी नये विचार की उत्पत्ति होते ही उस पर सूत्र, भाष्य, भाष्यों पर टिप्पणी टिप्पणियों पर टीकायें और उस पर टीकायें लिखी गयी इतना ही नहीं दर्शन जीवन के इतना अधिक निकट और व्यावहारिक रहा है लगभग प्रत्येक मतों के अपने-अपने सम्प्रदाय बन गये और उनके अनुयायियों की संख्या लाखों-करोड़ों में हो गयी। धार्मिक असहिष्णुता या धर्म जन्य सम्प्रदायवाद को यहाँ है सहिष्णु घरती ने कभी पनपने ही नहीं दिया। यद्यपि वैचारिक स्तर पर खूब तर्कवाण चले विद्वानों ने प्रतिपाक्षियों को परास्त करने में जीतोड़ प्रयास किया परन्तु दार्शनिक एवं धार्मिक सहिष्णुता की चादर कभी मैली नहीं होने पायी। बौद्धों और मीमांसकों की वैचारिक संघर्ष इतिहास प्रसिद्ध है। इस वैचारिक संघर्ष की एक और विशेषता रही है। इससे न केवल सम्बंधित -मतों/धर्मों के दार्शनिक साहित्य का ही विकास हुआ। बल्कि सुदृढ़ तर्क और वैज्ञानिक पद्धति पर सम्बंधित दर्शन का भव्य प्रासाद खड़ा हो सका।

उक्त सब विशेषताओं के होते हुये भी आज हमें आत्मनिरीक्षण की आवश्यकता है। दर्शन को तत्त्वमीमांसा के अगोचर एवं अदृश्य भावभूमि से उतारकर जनसामान्य के व्यावहारिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है। दर्शन के नैतिक पक्ष को और मजबूर करने की आवश्यकता है जिससे समाज एवं राष्ट्र को भोगवाद एवं अष्टाचार, कदाचार की ओँधी से बचाया जा सके।

शब्दावली :

पूर्वमीमांसा : वह दर्शन जिसमें वैदिक विचारधारा कर्मकाण्ड का पोषण और परिवर्द्धन किया गया है। पूर्वमीमांसा कहलाती है।

उत्तरमीमांसा : से तात्पर्य वेदान्त से है। वह दार्शनिक विचारधारा जिसमें वैदिक ज्ञानकाण्ड का समर्थन एवं पोषण किया गया है। उत्तरमीमांसा या वेदान्त कहलाती है।

उपनिषद : आरण्यकों के अन्तिम भाग को उपनिषद कहा जाता है। उपनिषद वेद के दार्शनिक चिन्तन की चरम परिणति को प्रस्तुत करते हैं। उपनिषद का शाब्दिक अर्थ उपनिषद वे साहित्य हैं जिन्हें शुरू के समीय बैठकर भक्तिपूर्वक सुनने से कर्म के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। साथ ही हमारा अज्ञान भी नष्ट हो जाता है।

प्रस्थान त्रयी : उपनिषद, गीता और ब्रह्म सूत्र को प्रस्थान त्रयी कहा जाता है। प्रस्थान शब्द का अर्थ है जिनके ऊपर ब्रह्म विद्या आधारित है।

सूची प्रश्न

1. भारतीय दार्शनिक साहित्य के उद्भव और विकास पर एक निबंध लिखिये।
2. वैदिक साहित्य से आपका क्या तात्पर्य है? वैदिक साहित्य के विकास के विविध आयामों का निरूपण कीजिए।
3. भगवद्गीता में वर्णित योग की अवधारणा का निरूपण कीजिये।
4. जैन एवं बौद्ध दर्शन साहित्य के विकास पर प्रकश डालियें।
5. न्याय एवं वैशेषिक दर्शन साहित्य के विकास का खाका प्रस्तुत कीजिये।
6. पूर्वमीमांसा में वैदिक कर्मकाण्ड का निरूपण एवं समर्थन किया गया है। वर्णन कीजिए।
7. उत्तर मीमांसा या वेदान्त में ज्ञानकाण्ड का समर्थन किया गया है। इस तथ्य की व्याख्या कीजिये।

NOTES

प्रदन्त कार्य

NOTES

- 1 आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों के भेद का आधार क्या है? नास्तिक दर्शनों की सूचीबद्ध व्याख्या कीजिये।
- 2 भारतीय दर्शन समन्वयात्मक और सहिष्णु है। इस तथ्य की विवेचना कीजिये।
- 3 न्याय दर्शन भारतीय दर्शन का तर्कशास्त्र है। न्याय के दार्शनिक साहित्य पर प्रकाश डालते हुये उक्त तथ्य के समर्थन में तर्क दीजिए।
- 4 अद्वैत वेदान्त, भारतीय वेदान्त दर्शन का मुकुटमणि है। इस तथ्य की विवेचना कीजिये।

उपयोगी ग्रन्थ

- 1 डॉ. जिन्नेद्र शर्मा : समकालिक अद्वैत चिन्तन बी.एस.शर्मा एण्ड ब्रदर्स, आगरा।
- 2 डॉ. रामस्वरूप सिंह नौलखा : आचार्य शंकर : ब्रह्मवाद किताबघर, आचार्य नगर, कानपुर।
- 3 डॉ. उमाशंकर शर्मा 'ऋषि' : सर्वदर्शन संग्रह चौखम्मा प्रकाशन वाराणसी।
- 4 डॉ. नन्दकिशोर देवराज : भारतीय दर्शन, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ।

सर्वदर्शन संग्रह (चार्वाक दर्शन)

NOTES

इकाई की खपरेखा

भूमिका :

उद्देश्य :

4.3.1. चार्वाक और लोकायतिक नामकरण

4.3.2. तत्त्वमीमांसा - ईश्वर सम्बन्धी विचार

4.3.3. मोक्षा एवं आत्मा की अवधारणा

4.3.4. चार्वाक मत संग्रह

4.3.5. प्रमाण विचार - प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण

4.3.6. अनुमान प्रमाण का खंडन

4.3.7. शब्द प्रमाण का खंडन

4.3.8. लौकिक व्यवहार और वस्तुयें

4.3.9. चार्वाक मत सार

सारांश

शब्दावली

सूची प्रश्न

प्रदन्त कार्य

उपयोगी ग्रन्थ

भूमिका :

प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार यदि हम भारतीय दर्शन का वर्गीकृत अध्ययन करना चाहें तो सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को दो भागों में बाँटा जा सकता है-आस्तिक तथा नास्तिक। चार्वाक, जैन और बौद्ध ये तीन नास्तिक दर्शन हैं और न्याय, वैशेषिक सॉख्य, योग मीमांसा तथा वेदान्त आस्तिक दर्शन हैं। आस्तिकता और नास्तिकता के निर्धारण का आधार क्या है इस सम्बन्ध में दार्शनिक एक मत नहीं है। फिर भी यह मत लगभग सर्वमान्य है कि वेदों को प्रमाण मानने वाले आस्तिक हैं और वेदों को प्रमाण न मानने वाले नास्तिक। इस प्रकार चार्वाक नास्तिक दर्शन है।

चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता उनका कोई आस्तित्व नहीं है। इस प्रकार अनुमान और शब्द प्रमाण मान्य नहीं। चूँकि चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षवादी है अतः जिन विषयों का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता उनका कोई आस्तित्व नहीं है। इस प्रकार आत्माद्व ईश्वर, मोक्ष और परलोक जैसे चीजों का कोई आस्तित्व नहीं है। जीवन का उद्देश्य केवल वत्रमान जीवन में अधिक से अधिक इन्द्रिय सुख की प्राप्ति है। इस प्रकार वत्रमान को सुखद बनाना ही नैतिक जीवन का आधार है। ईश्वर आत्मा, मोक्ष, परलोक या स्वर्ग सुख प्रलापमात्र है। संसार का निर्माण जड़ परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से हुआ है। इस प्रकार सृष्टि निर्माण के लिये किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर के आस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में हम आपको भारतीय दर्शन के नास्तिक सम्प्रदाय के अन्तर्गत गिने जाने वाले जड़वादी दर्शन चार्वाक के बारे में जानकारी दे रहे हैं। प्रस्तुत इकाई में विविध उपशीर्षकों के अन्तर्गत चार्वाक दर्शन की मान्यताओं और अवधारणओं का विस्तार पूर्वक विवेचन किया जायेगा। ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में

चार्वाक प्रत्यक्षवादी है इसलिये अनुमान और शब्द प्रमाण का खंडन करता है। चार्वाक की तत्त्वमीमांसा उसकी ज्ञानमीमांसा पर आधारित है। अपनी ज्ञानमीमांसा के आलोक में वह ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय सन्ता का निषेध कर जाता है। इन सभी तथ्यों पर इस इकाई में विस्तार से प्रकाश डाला जायेगा। इस प्रकार इस इकाई का अध्ययन करके आप चार्वाक दर्शन के विविध पक्षों-ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा, नीतिमीमांसा के बारे में सुगमतापूर्वक गहन जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

4.3.1 चार्वाक और लोकायतिक नामकरण

इस दर्शन का नाम चार्वाक और लोकायतिक क्यों पड़ा इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के अपने-अपने विचार है। ऐतिहासिक दृष्टि से कहा जाता है कि इस दर्शन के प्रथम आचार्य चार्वाक हुये अतः चार्वाक द्वारा प्रवत्रित होने के कारण यह दर्शन चार्वाक कहलाया। एक दूसरे मत के अनुसार चार्वाक शब्द चारू+वाक् से बना है। चारू का तात्पर्य सुन्दर से है और वाक् का अर्थ वाणी से है। इस प्रकार चार्वाक का शाब्दिक अर्थ सुन्दर वाणी से है चूँकि यह दर्शन खाने-पीने पर अधिक जोर देता है इसके उपदेश सुनने में बड़े मीठे लगते हैं जब तक जीओ सुख से जिओ कर्ज करके धी पीओ। कामनाओं की सुन्तुष्टि ही एकमात्र पुरुषार्थ है। इसलिये भी यह दर्शन चार्वाक कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि चार्वाक शब्द चर्व धातु से बना है जिसका अर्थ है भोजन करना इसका व्यंग्यार्थ है चबा जाना। प्रथम भोजन अर्थ में। चार्वाक दार्शनिकों में भोज, पान, भौम इत्यादि का पूरा उपदेश दिया है अतः चार्वाक नाम ‘यथा नामों तथा गुण के अनुरूप है। दूसरा व्यंग्यार्थ में चार्वाक के अनुयायी पाप, पुण्य, परोक्ष परलोक आदि को चबा जाते हैं अर्थात् नहीं मानते इसी कारण वे चार्वाक कहलाये।

जहाँ तक लोकायत नामकरण का प्रश्न है, प्रत्यक्ष परिदृश्यमान इस लोक में सर्वाधिक प्रसार के कारण ही इस दर्शन का नाम लोकायत दर्शन भी पड़ा। चार्वाक दर्शन वैदिक सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता यहाँ तक कि दुष्ट चार्वाक

वेदों की निन्दा भी करते हैं। अवश्य यह नास्तिक दर्शन कहलाता है। चार्वाक में परमतत्व जड़ माना गया है। जड़तत्वों की संख्या चार-पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु मानी गयी है। अतः इस दर्शन के जड़वादी या भौतिकवादी दर्शन कहा जाता है। जड़ परमाणुओं के आकस्मिक संयोग या उनके स्वभावतः मिलन से सांसारिक पदार्थों/सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। अतः इनका सृष्टि सम्बन्धी विचार स्वभाववाद भी कहलाता है। लोकायत नामकरण के पक्ष में कुछ अन्य दृष्टितं भी उपलब्ध होते हैं शंकराचार्य के अनुसार देह से भिन्न आत्मा की सत्ता नहीं मानने वाले लोकायत है। हरिभद्र सूरि के षड्दर्शन समुच्चय में चार्वाक के लिये लोकायत शब्द का ही प्रयोग किया गया है। श्री वाचस्पति मिश्र ने अनुमान को अप्रमाण मानने वालों को लोकयविक कहा है। वात्स्यायन ने भी चार्वाक के लिये लोकायत शब्द का ही प्रयोग किया है। इन उदारणों से यह सिद्ध है कि चार्वाक दर्शन का दूसरा नाम लोकायत है तथा इस दर्शन के मानने वालों के लोकायतिक कहते हैं।

4.3.2 तत्त्वमीमांसा-ईश्वर सम्बन्धी विचार

विश्व के मूलतत्वों के सम्बन्ध में चार्वाकों का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारों पर अवलम्बित है। चार्वाक चूँकि प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं अतः वे उन्हीं तत्वों की सत्ता स्वीकार करते हैं जिनका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। चूँकि ईश्वर एक ऐसी सत्ता जिसका ज्ञान पंचज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से सम्भव नहीं है। अतः ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता हमें केवल जड़ द्रव्यों का ही प्रत्यक्ष होता है अतः हम केवल उन्हीं को मान सकते हैं। इस प्रकार चार्वाक जड़वाद का प्रतिपादन करते हैं। इनके मत के अनुसार जड़ ही एकमात्र तत्व है। प्रायः ईश्वरवादी दर्शनों में ईश्वर की सत्ता सृष्टिकर्ता के रूप में स्वीकार की गयी है। अब यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि चार्वाक ईश्वर की सत्ता को नकार जाते हैं तो वे सृष्टि की व्याख्या कैसे करते हैं? प्रायः किसी कार्य की उत्पत्ति के लिये उपादान कारण और निमित्त कारण दोनों की आवश्यकता पड़ती है। यथा घड़े के निर्माण में मिट्टी उपादान कारण है और कुम्भकार घड़े का निमित्त कारण है। उसी तरह से यदि चार्वाकों के इस मत को

स्वीकार भी कर लिया जाय कि जड़ परमाणु-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु सृष्टि के निर्माण में उपादान कारण के रूप में कार्य हैं तो भी इस प्रश्न का उत्तर अपेक्षित रह जाता है कि आखिर सृष्टि के निर्माण में निमित्तकारण कौन है? व्यावहारिक अनुभव यह बतलाता है कि बिना निमित्त कारण के किसी कार्य की उत्पत्ति नहीं। आखिर जड़ परमाणुओं के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति कैसे होती है।

इसके उत्तर में चार्वाक दार्शनिक कहते हैं कि सृष्टि के निर्माण के लिये निमित्त कारण के रूप में किसी ईश्वर की सत्ता को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार का निर्माण जड़ परमाणुओं-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु के आकस्मिक संयोग से हुआ है। सृष्टि निर्माण के पीछे किसी उद्देश्यपरकता या प्रयोजनशीलता को मानना मूर्खता है। जड़तत्वों का स्वयं अपना-अपना स्वभाव है। अपने-अपने स्वभाव के अनुसार ही वे संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण से संसार की उत्पत्ति होती है। इसके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

“लोक सिद्धा राजा परमेश्वर”

संसार में स्वीकृत राजा ही परमेश्वर है। संसार का नियत्ता, उत्पत्ति, पालन और संहारकर्ता, पुनर्जन्म का प्रदाता ईश्वर नहीं क्योंकि उत्पत्ति आदि तो स्वाभाविक है। पुनर्जन्म है ही नहीं। चूँकि चार्वाक पुनर्जन्म को नहीं मानते अतः कर्मफल अधिष्ठाता के रूप में भी ईश्वर की सत्ता को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। सृष्टि के सम्बन्ध में चार्वाकों का मत ‘स्वभाववाद’ या यदृच्छावाद कहलाता है। वस्तुतः जड़भूतों के अतंर्निहित स्वभाव से ही जगत की उत्पत्ति होती है संसार तो जड़तत्वों का आकस्मिक संयोग है।

4.3.3 मोक्ष एवं आत्मा की अवधारणा

आस्तिक दर्शनों में आत्मा को शरीर से भिन्न, नित्य और अपरिणामी माना गया है। जन्म, मरण आदि शरीर के धर्म हैं आत्मा के नहीं। इस प्रकार आत्मा शरीर से भिन्न है। चार्वाक दर्शन में आत्मा के नित्य स्वरूप का पूर्णतः निषेध किया गया है तथा आत्मा को शरीरादि से पृथक् नहीं माना गया है।

अब यहाँ पर प्रश्न यह पैदा यदि होता है कि यदि केवल जड़ परमाणुओं की ही सत्ता है और आत्मा तथा ईश्वर नाम की कोई सत्ता नहीं है तो चैतन्य की व्याख्या कैसे की जा सकती है? चैतन्य को तो हम नकार नहीं सकते। चार्वाक स्वीकार करते हैं कि चैतन्य का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है किन्तु वे यह नहीं मानते कि चैतन्य किसी अभौतिक तत्व अर्थात् आत्मा का गुण है। आत्मा का तो कभी प्रत्यक्ष होता ही नहीं है। जड़तत्वों से बने जो हमारे शरीर हैं केवल उन्हीं का तो प्रत्यक्ष होता है। चैतन्य हमारे शरीर के अन्तर्गत है इसलिये शरीर का ही गुण चैतन्य को मानना चाहिये। चैतन्य शरीर को ही आत्मा मानना चाहिये। “‘चैतन्य विशिष्टों देह एव आत्मा।’” आत्मा और शरीर के तादात्प्य का ज्ञान दैनिक अनुभवों से भी प्राप्त होता है। ‘मैं मोटा हूँ’, ‘मैं लंगड़ा हूँ’, मैं अंधा हूँ ये वाक्य आत्मा और शरीर की एकता को ही प्रमाणित करते हैं। यदि आत्मा शरीर से भिन्न हो तो इन वाक्यों का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

यहाँ पर पुनः यह प्रश्न विचारणीय है कि यदि चार्वाकों को इस विचार को इस विचार को स्वीकार कर लिया जाय कि संसार का निर्माण जड़ परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से हुआ है तो प्रश्न पैदा होता है कि फिर चेतना और उसकी उत्पत्ति की व्याख्या हम कैसे करेंगे? मूल परमाणुओं में तो चेतना पायी नहीं जाती क्योंकि वे जड़ तो फिर जिस चेतना का हमें प्रत्यक्ष होता है उसकी व्याख्या कैसे? चार्वाक कहते हैं कि जड़ परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से जागतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। यह संभव है कि तत्वों में यदि किसी गुण विशेष का अभाव भी रहे-तो उसकी उत्पत्ति उस निर्मित वस्तु से ही दी जा सकती है। अरे भाई! पान, चूना, सुपारी, में लाल रंग तो कहीं नहीं पाया जाता परन्तु जब उनको एक साथ मिलाकर खाया जाता है तो लाल रंग अपने आप पैदा हो जाता है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में रखने से भी उनमें नये-नये गुणों को आविर्भाव होता रहता है।

“जड़ भूत विकारेषु चैतन्यं यन्तु दृश्यते
ताम्बूलपूरा चूर्णानां योगाद्वाग इवोत्थितम्।।”

अर्थात् जड़-पदार्थों के विकार से चैतन्य उसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे पान, सुपारी और चूने के योग से पान की लाली निकलती है। गुड़ में मादकता का अभाव है किन्तु गुड़ के सड़ जाने पर वह मादक हो जाता है। इसी प्रकार जड़ तत्वों का भी सम्मिश्रण यदि एक विशेष ढंग से हो तो शरीर की उत्पत्ति होती है और उसमें एक नये गुण चैतन्य का आविर्भाव होता है। शरीर से भिन्न आत्मा के आस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है।

अब यह बात स्पष्ट हो गयी कि शरीर से भिन्न चेतन आत्मा का कोई आस्तित्व नहीं है ऐसी स्थिति में आत्मा की अमरता, अजरता और अविनाशत्व का कोई अर्थ नहीं। आत्मा की अमरता और अजरता की मान्यता मूर्ख पण्डितों का प्रलाप मात्र है।

तत्व मीमांसा से ही जुड़ा हुआ विषय स्वर्ग और मोक्ष की अवधारणा का है। मीमांसा दर्शन में मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में ‘स्वर्ग’ की अवधारणा को मान्यता दी गयी है। “स्वर्गकामो यजेत्” यह मीमांसकों का नारा है। यदि मनुष्य इस जीवन में यज्ञादि नैतिक कर्मों, दान आदि पुण्य कार्य करता है तो मरणोपरान्त उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। स्वर्ग पूर्ण आनन्द की अवस्था है। वहाँ जरा, जन्म, रोग आदि का भय नहीं है। इसलिये स्वर्ग की अभिलाषा रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति को वैदिक आचारों का पालन करना चाहिये। चार्वाक के अनुसार स्वर्ग की सत्ता ही नहीं है अतः स्वर्ग सुख की कल्यना मिथ्या कल्पना है।

किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति को वत्रपान जीवन में इसलिये कष्ट नहीं उठाना चाहिये कि भविष्य में उसे सुख मिलेगा। ऐहिक सुख का त्याग कर परलोक के सुख के लिये यत्न करना तो हस्तगत अवलोह का त्याग कर कोहनी को चारना है।

‘‘न स्वर्गो नापर्वर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः

नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकः

अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्

बुद्धि पौरुष हीनानां जीवकेति वृहस्पतिः

त्रयो वेदस्य कर्त्तरो भण्ड धूत्र निशाचराः

जुर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतः”

न कही स्वर्ग है और न कोई मोक्ष है। न तो पारलौकिक आत्मा है और न वर्णाश्रम धर्म है। वर्णाश्रम धर्म और यज्ञादि कर्मकाण्ड का कोई फल नहीं। हवन करना, संन्यास धारण करना ललाट में भस्म धारण करना इत्यादि पुरुषार्थहीन व्यक्तियों के जीवनयापन के लिये बनाये गये हैं। तीनों वेदों के रचयिता तो भण्ड, धूत्र और निशाचर थे उन लोगों ने जुर्फरी, तुर्फरी आदि अप्रसिद्ध वचनों से लोक को बन्धित किया है।

पुरोहितों का यदि वास्तविक विश्वास है कि यज्ञ में बलिदान किया हुआ पभु स्वर्ग पहुँच जाता है तो वे क्यों नहीं पशुओं के बदले माँ-बाप की बलि कर देते हैं ताकि वे स्वर्ग जा सकें।

पशुश्चेन्निहतः स्वर्ग ज्योतिष्टोमे गमिष्यति

स्वपिता यजमानेन तब कस्मान्न हिंस्यते”॥

इस प्रकार चार्वाक स्वर्ग को मिथ्या बतलाते हैं तथा स्वर्गीय सुख को कोरी कल्पना कहते हैं। यही संसार स्वर्ग है। इसमें आधिकाधिक स्वेच्छा से भोग करना ही स्वर्गीय सुख है तथा पीड़ा सहना ही नरक है। षोडसी रमणी का संगम, सुन्दर वस्त्र, सुगन्धित माला का धारण, श्वेत चन्दन का अनुलेपन ही स्वर्ग सुख हैं।

इसी तरह चार्वाक मोक्ष की मान्यता का भी खण्डन करते हैं। पूर्ण दुःखनिवृत्ति ही मोक्ष है। इस सन्दर्भ में कुछ दार्शनिक मतों के अनुसार वत्रमान काल में ही शरीर के रहते मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है कुछ के अनुसार मोक्ष मृत्यु के उपरान्त प्राप्त होता है। चार्वाक इनमें से किसी भी मत को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार यदि मोक्ष का अर्थ आत्मा का शारीरिक बन्धन से मुक्त होना है तो यह कदापि संभव नहीं है क्योंकि अविनाशी आत्मा का आस्तित्व ही नहीं है। आत्मा की सत्ता ही नहीं है तो फिर मोक्ष किसका। जहाँ तक शरीर की बात है यह तो मृत्यु के साथ ही नष्ट हो जाती है। और यदि मोक्ष का अर्थ जीवन काल में दुःख निवृति लिया जाय तो यह भी संभव नहीं है। क्योंकि शरीर धारण और सुख-दुःख में अविच्छेद सम्बन्ध है। जब तक शरीर है सुख-दुःख की आँख-मिचौली चलती ही रहेगी। पूर्ण दुःख निवृत्ति तो मृत्यु के साथ ही संभव है।

“मरणमेव अपवर्गः”। मृत्यु ही मोक्ष है। दुःख मिश्रित होते हुये भी सुख को ही जीवन का अमीष्ट स्वीकार किया जाना चाहिये। स्त्री आदि के आलिंगनादि से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ है (दूसरा कुछ पुरुषार्थ नहीं) ऐसा नहीं समझना चाहिये कि दुःख से मिला-जुला होने के कारण सुख पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि हम लोग (सुख के साथ) अनिवार्य रूप से मिले-जुले दुःख को हटाकर केवल सुख का ही उपभोग कर सकते हैं। ऐसा कोई सुख संसार में नहीं जो केवल सुख ही हो दुःख नहीं। वस्तुतः संसार के सभी सुख, दुःखों से युक्त होते हैं। ऐसा देखकर भी सुख को पुरुषार्थ समझना चाहिये क्योंकि सुख, दुःख से भरी वस्तु से दुःख को हटाकर केवल सुख का ही आनंद लिया जा सकता है। जैसे-मछली चाहने वाले व्यक्ति छिलके-और काँटों के साथ ही मछलियों को पकड़ता है, उसे जितने की आवश्यकता है उतना (अंश) लेकर हट जाता है और जिस प्रकार धान को चाहने वाला व्यक्ति पुआल के साथ ही धान ले आता है जितना उसे लेना चाहिये उतना लेकर हट जाता है इसलिये दुःख के भय से (मन के) अनुकूल लगने वाले सुख को छोड़ना ठीक नहीं है।

4.3.4 चार्वाक मत-संग्रह

यदि हम चार्वाक दर्शन के तत्त्वमीमांसीय, और नैतिक विचारों को सार रूप में व्यक्त करना चाहें तो हम कह सकते हैं कि तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में चार्वाक केवल प्रत्यक्ष की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। वे सत्तायें जिनकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो सकती या जो इन्द्रिय गोचर नहीं हैं-आत्मा, ईश्वर, मोक्ष, परलोक, स्वर्ग आदि ऐसी सत्ताओं के अस्तित्व को बिल्कुल स्वीकार नहीं किया जा सकता है। ये सब कोरी कल्पनायें हैं। केवल जड़ तत्व की ही वास्तविक सत्ता है। संसार के निर्माण के लिये किसी सृष्टिकर्ता ईश्वर को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। संसार का निर्माण पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं के स्वभावतः मिलन से होता है। विश्व में कहीं पर भी प्रयोजनशीलता या उद्देश्यपरकता नहीं है सम्पूर्ण सृष्टि जड़ परमाणुओं के आकस्मिक मिलन/खेल का परिणाम है।

जहाँ तक चार्वाक के नैतिक विचारों का प्रश्न है परलोक, मोक्ष, अदृष्ट, कर्मफल का अधिष्ठाता ईश्वर आदि किसी की भी सत्ता स्वीकार न करने के कारण वे नैतिक जीवन का लक्ष्य वत्रमान जीवन को ही सुखमय बनाना मानते हैं। स्त्री के आलिंगन से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ का लक्षण है। काँटे इत्यादि (गड़ने की) पीड़ा से उत्पन्न दुःख ही नरक कहलाता है। संसार के द्वारा माना गया राजा ही परमेश्वर है दूसरा कोई नहीं। देह का नाश ही मुक्ति है। ज्ञान से मुक्ति नहीं होती। जड़ परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से चेतना की उत्पत्ति उसी तरह से स्वतः हो जाती है जैसे किण्वादि द्रव्यों के मिलने से यदशक्ति (निकलती) है। मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ इस प्रकार (दोनों के) एक आधार होने के कारण तथा मोटाई आदि से संयोग होने के कारण देह ही आत्मा है दूसरा कोई नहीं। 'मेरा शरीर' यह उक्ति आलंकारिक है।

4.3.5 प्रमाण विचार-प्रत्यक्ष एकमात्र प्रमाण

याथार्थ ज्ञान को ही प्रमा कहा जाता है। यथार्थ ज्ञान की उत्पत्ति जिन साधनों से होती है उसे ही प्रमाण कहा जाता है। यद्यपि भारतीय दर्शन में प्रमाणों की सँख्या बहुत ज्यादा है परन्तु चार्वाक दर्शन केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। प्रत्यक्ष के द्वारा जो भी ज्ञान प्राप्त होता है वह विश्वसनीय और सच्चा होता है। प्रत्यक्ष के द्वारा प्राप्त ज्ञान में शंका या तर्क के लिये कोई स्थान नहीं होता है। अतः प्रत्यक्ष निर्विवाद रूप से याथार्थ ज्ञान है। मानव संरचना में मनुष्य को पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ प्राप्त हैं जिनके द्वारा वह वाह्य भौतिक संसार का ज्ञान प्राप्त करता है। दृश्येन्द्रिय का तात्पर्य आँख से है जिसके द्वारा मनुष्य को रूप ज्ञान की प्राप्ति होती है। आँख के द्वारा हम वस्तुओं के रूप, रंग एवं आकार की जानकारी प्राप्त करते हैं। कर्णेन्द्रिय से तात्पर्य कान से है जिसका विषय शब्द है। इससे हम श्रवण या सुनने को कार्य करते हैं। इस प्रकार शब्द ज्ञान के माध्यम से हमें वस्तुओं का जो ज्ञान प्राप्त होता है वह कर्णेन्द्रिय (कान) के माध्यम से होता है। नासिका या नाक को घ्राणेन्द्रिय कहा जाता है जिसका विषय गन्थ है। वस्तुओं के गन्थ के माध्यम से हम उनकी जानकारी प्राप्त करते हैं।

स्पर्शेन्द्रिय का अर्थ त्वचा से है। जैसे ही कोई वस्तु अथवा पदार्थ त्वचा के सम्पर्क में आता है-व्यक्ति उससे सम्बन्धित कठोरता, कोमलता आदि का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। जिह्वा स्वादेन्द्रिय के रूप में जानी जाती है कोई खाद्य मीठी है, खट्टी है, कसैली है, नमकीन है, उष्ण है, शीत है अथवा शीतोष्ण इसकी जानकारी हम अपनी जिह्वा से प्राप्त करते हैं। इस प्रकार पंच ज्ञानेन्द्रिय गम्य जगत की ही सत्ता है। जिन पदार्थों, वस्तुओं का ज्ञान पंच ज्ञानेन्द्रियां से नहीं प्राप्त किया जा सकता उनका कोई आस्तित्व नहीं है। इस प्रकार अतीन्द्रिय सत्ताये ईश्वर, आत्मा, मोक्ष, स्वर्ग आदि का आस्तित्व मानना कोरी कल्पना है। वस्तुतः हमारे ज्ञान का संसार केवल प्रत्यक्ष तक ही सीमित है।

4.3.6 अनुमान प्रमाण का खंडन

चार्वाक दर्शन में अनुमान को प्रमाण नहीं माना गया है क्योंकि इसके द्वारा निश्चयात्मक ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अनुमान का कारण है व्याप्ति ज्ञान। अतः व्याप्ति ज्ञान के निःसन्देह हेतु पर ही अनुमान निश्चयात्मक हो सकता है। धूमें और आग में यदि व्यक्ति ज्ञान का निश्चय ही जाय तभी धूआँ देखकर आग का अनुमान किया जा सकता है।

किसी भी प्रमाण से धूये और आग के व्याप्ति सम्बन्ध का निश्चय संभव नहीं हो सकता संसार के समस्त धूममय और अग्निमय पदार्थों के व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान हमें प्राप्त नहीं हो सकता है अतः प्रत्यक्ष से व्याप्ति का निश्चय नहीं किया जा सकता। भूत और भविष्य में सभी धूम और अग्नि के सहचर्य सम्बन्ध का निश्चय करना तो असंभव ही है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि प्रत्यक्ष के द्वारा तो व्याप्ति स्थापना संभव नहीं। अनुमान के द्वारा तो व्याप्ति स्थापना की बात सोची भी नहीं जा सकती क्योंकि अनुमान स्वयं व्याप्ति पर निर्भर है। अनुमान व्याप्ति पर आश्रित है और व्याप्ति अनुमान पर आश्रित। इस प्रकार दोनों एक दूसरे पर आश्रित हुये। फिर तो यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ। व्याप्ति की स्थापना हम शब्द के द्वारा भी नहीं कर सकते क्योंकि शाब्दिक प्रमाण भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होता है। दूसरी बात है कि यदि अनुमान सदा शब्द

प्रमाण पर ही निर्भन हो तो फिर कोई भी व्यक्ति अपने आप से अनुमान नहीं कर सकता। उसे सर्वदा किसी विश्वासपात्र व्यक्ति पर निर्भर करना होगा।

यहाँ एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यह बात सत्य है कि हम संसार के समस्त धूममय और अग्निमय पदार्थों को नहीं देख सकते परन्तु उनके सामान्य धर्म अर्थात् धूमत्व और वहित्व को तो अवश्य देख सकते हैं। ऐसी स्थिति में बिना समस्त धूममय और अग्निमय पदार्थों को देखे हम व्याप्ति स्थापना में सफल हो सकते हैं। चार्वाक इस युक्ति का भी खंडन करते हैं। वस्तुत प्रत्यक्ष के द्वारा धूमत्व का ज्ञान संभव ही नहीं है। धूमत्व तो एक जाति या सामान्य है जो सभी धूमवान पदार्थों में वत्रमान है। अतः जब तक सभी धूमवान पदार्थों का प्रत्यक्ष न हो तब तक उनके सामान्य का ज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु सभी धूमवान पदार्थों का प्रत्यक्ष संभव ही नहीं। अतः धूमत्व केवल उन धूमवान पदार्थों का सामान्य समझा जायेगा। जिन्हें हमने देखा है। स्पष्ट है कुछ व्यक्तियों को देखकर व्याप्ति ज्ञान नहीं हो सकता।

यहाँ एक प्रश्न यह उठता है कि यदि संसार में कोई निश्चित सर्वव्यापक नियम नहीं है तो सांसारिक वस्तुओं में नियमितता क्यों पायी जाती है? आग सदा गर्म क्यों रहती है और जल सदा शीतल क्यों रहता है? चार्वाक मतानुसार यह वस्तुओं का स्वभाव है। वस्तुओं के प्रत्यक्ष धर्म को समझने के लिये किसी अप्रत्यक्ष नियम की कल्पना करना अनावश्यक है। यह सर्वथा अनिश्चित है कि वस्तुओं में जो नियम अतीत में पाया गया है वह भविष्य में भी पाया जायेगा। अगर यह प्रश्न उठाया जाय कि क्या धूये और अग्नि का व्याप्ति सम्बन्ध कार्य-कारण नियम के आधार पर स्थापित नहीं किया जा सकता क्या तो चार्वाक तुरंत कह पड़ेगे-कार्यकारण सम्बन्ध भी एक व्यति है अतः इसकी स्थापना भी उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण संभव नहीं।

यह बात सत्य है कि अनुमान के आधार पर दैनिक व्यवाहारिक जीवन में हम अपना कार्य सम्पादित करते रहते हैं और प्रायः वे (संयोगवश सत्य भी होते रहते हैं परन्तु इस काकतालीय स्थिति के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना मूर्खतापूर्ण है।

4.3.7 शब्द प्रमाण का खण्डन

अनुमान प्रमाण के खण्डन के साथ ही चार्वाक शब्द को भी प्रमाण नहीं मानते हैं चार्वाक के अनुसार शब्द का अस्तित्व अनुमान से पृथक् नहीं क्योंकि शब्दगत अर्थ का ही अनुमान होता है। अर्थ का प्रत्यक्ष भाव नहीं होता अतः शब्द अनुमान में ही सन्निविष्ट है। यदि शब्द प्रमाण को अनुमान अन्तर्गत न भी माना जाय तो भी शब्द निर्देषप्रमाण सिद्ध नहीं होता। तथाकथित शब्द प्रमाण से मिथ्या ज्ञान प्राप्त होता। अनेक व्यक्तियों को वेद में पूरा विश्वास है यहाँ तक कि वे वेद को अपौरुषेय मानते हुये उसे पूर्ण निर्भान्त और सत्य मान लेते हैं परन्तु वास्तव में वेद क्या है? वेद तो उन धूत्र पुरोहितों के कृत्य है जिन्होंने अज्ञान तथा विश्वासपरायण मनुष्यों को धोखे में डालकर अपनी जीविका का प्रबन्ध किया है। इन पुरोहितों ने झूठी-झूठी आशायें तथा झूठे-झूठे प्रलोभन देकर मनुष्यों को वैदिक कर्म के अनुसार चलने को प्रेरित किया है। इन कर्मों से लाभ केवल पुरोहितों को होता है।

NOTES

यहाँ पर व्यावहारिक जीवन से जुड़ा हुआ एक प्रश्न यह है कि यदि हम विश्वासपात्र व्यक्तियों की बातों पर भी विश्वास नहीं करेंगे; धर्मगुरुओं की ऋषियों-मुनियों द्वारा साक्षात्कार किये गये सत्य पर भी विश्वास नहीं करेंगे तो क्या हमारा ज्ञान अत्यन्त संकुचित नहीं हो जायेगा। क्या हम मात्र इन्द्रिय संवेदनों तक ही सीमित नहीं रह जायेगे? प्रत्युत्तर में चार्वाक कहते हैं कि आस्था और विश्वास व्यक्तिगत जिन्दगी का विषय है इसमें अनिवार्यता और सार्वभौमिकता का अभाव होता है। तर्क के क्षेत्र (दर्शन में) धार्मिक वैयाकितक आस्थाओं का कोई मूल्य नहीं। शब्द प्रमाण भी एक प्रकार से अनुमान प्रमाण ही होता है। इसकी अनुमान प्रणाली निम्नानुसार स्थापित की जा सकती है-

सभी विश्वासयोग्य व्यक्तियों के वाक्य मान्य हैं।

यह विश्वासयोग्य व्यक्ति का वाक्य है।

अतः यह मान्य है।

स्पष्ट है शब्द प्रमाण भी अनुमानवत् कार्य करता है। अतः शब्द की प्रामाणिकता उसी प्रकार अस्वीकार्य है जैसे अनुमान प्रमाण की। अनुमान की तरह हम शब्द भी विश्वास योग्य मानकर उसके अनुसार अपना कार्य करते हैं और प्रायः हमें सफलता भी मिलती रहती है किन्तु कई बार हम सफलता से वंचित भी हो जाते हैं अतः शब्द ज्ञान प्राप्ति का यथार्थ और निर्भर योग्य साधन नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त तथ्यों एवं तर्कों के आलोक में चार्वाक दार्शनिक अनुमान एवं शब्द प्रमाण का खण्डन करते हुये प्रत्यक्ष के ही एकमात्र प्रमाण मानते हैं।

4.3.8 लौकिक व्यवहार और वस्तुयें

यहाँ पर एक प्रश्न और उसका चार्वाकीय निराकरण भी आवश्यक है। प्रश्न लौकिक व्यवहार और वस्तुओं से जुड़ा हुआ है। यदि कर्मफल का सिद्धान्त नहीं है कार्यकारण नियम भी संदिग्ध है तो हमारा लौकिक व्यवहार कैसे संचालित होता है। वैयाकितक और सामाजिक जीवन में नैतिकता की स्थापना या नैतिक व्यवस्था में विश्वास कैसे किया जा सकता है। कुछ लोगों के अनुसार अच्छे और बुरे कर्मों से उत्पन्न पुण्य और पाप के रूप में अदृष्ट रहता है वही ऐश्वर्य देता है या रोग उत्पन्न करता है। इसे कर्मफल भी कहते हैं। ऐश्वर्यादि कार्यों को देखकर अदृष्ट कारण की सिद्धि होती है जैसे धूयें से अग्नि। किन्तु जब अनुमान मानते ही नहीं, ऐश्वर्यादि स्वाभाविक है तब अदृष्ट रूपी कारण रहेगा। क्या खाकर? अब यदि प्रश्न करे कि अदृष्ट यदि नहीं है तो संसार की विचित्रता की व्याख्या कैसे की जायेगी? क्या कारण है कि आग हमेशा उष्णता प्रदान करती है जबकि जल शीतलता। चार्वाक दार्शनिक इसका उत्तर ‘स्वभाववाद’ सिद्धान्त से देते हैं। सृष्टि का यह स्वभाव ही है कि वह अनेक विषमताओं व विचित्रताओं को वह स्वयं में सिमेटे हुये है। अग्नि उष्ण है, जल शीतल है, वायु समशीतोष्ण है। यह सब विचित्रता किसने की? अपनी-अपनी प्रकृति से ही इनकी व्यवस्था हुई है। इसके लिये किसी अदृष्ट सत्ता को मानने की आवश्यकता नहीं है।

चार्वाक के उक्त विचारों को उनके लौकिक व्यवहार पर भी प्रभाव पड़ा है। अतीन्द्रिय वस्तुओं ईश्वर, आत्मा, मोक्ष, परलोक की प्राप्ति और सिद्धि के स्थान पर वे जीवन में इहलोकवादी और सुखवादी हो गये। सुख की प्राप्ति ही जीवन का सबसे बड़ा लक्ष्य है वह भी अदृष्ट अतीन्द्रिय सुख नहीं। ऐहिक सुख की प्राप्ति ही जीवन को चरम लक्ष्य है। इस परम्परा में स्वेच्छाचार और कामाचार के पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान की गयी है। इस मत के अनुसार पाँच इन्द्रियों की सेवा या विषयभोग के द्वारा ही मनुष्य अपने चरम लक्ष्य की प्राप्ति कर सकता है अतः काम ही एकमात्र पुरुषार्थ है। अर्थ, काम का सहायक होने के कारण अतिरिक्त या सहायक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इस सम्प्रदाय में भोजन पान और भोग के लिये पूर्ण प्रोत्साहन और स्वच्छन्दता है ‘हे सुन्दरी! जो चाहो खाओ और जो चाहो पीओ। हे कोमलांगी! जो अतीत हो गया वह पुनः आने को नहीं। पूर्ण स्वतन्त्र होकर सुख का उपभोग करना ही बुद्धिमानी है।’

4.3.9 चार्वाक मत सार

वैसे तो प्रस्तुत इकाई में चार्वाक दर्शन के विविध पक्षों का सविस्तार विवेचन किया जा चुका है तथापि पाठकगण एक ही स्थान पर चार्वाक दर्शन की सम्पूर्ण झलकियाँ प्राप्त कर सकें, इस हेतु प्रस्तुत स्थल पर चार्वाक दर्शन के महत्वपूर्ण आयामों का विवेचन ‘चार्वाक मत सार’ शीर्षक के अन्तर्गत सर्व दर्शन संग्रह ग्रन्थ के आधार पर किया जा रहा है।

न स्वर्गे नापवर्गे वा नैवात्मा पारलौकिकः
नैव वर्णश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिकः॥

वृहस्पति ने भी यह सब कहा है न तो स्वर्ग है, न अपवर्ग (मोक्ष) और न परलोक में रहने वाली आत्मा, वर्ण आश्रम आदि की क्रियायें भी फल देने वाली नहीं हैं।

अग्निधेत्र, तीनों वेद, तीन दण्ड धारण करना और भस्म लगाना-ये बुद्धि और पुरुषार्थ से रहित लोगों की जीविका के साधन हैं जिन्हें ब्रह्मा ने बनाया है।

मृतानामपि जन्मूनां श्राव्यं चेन्वृतिकारणम्
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः संवधयेच्छखाम्।

यदि ज्योतिष्ठोम्-यज्ञ में मारा गया पशु स्वर्ग जायेगा तो उस जगह पर यजमान आपने पिता को ही क्यों नहीं मार डालता। मेरे हुये प्राणियों को श्राद्ध से यदि तृप्ति मिले तो बुझे हुये दीपक की शिखा को तो तेल अवश्य ही बढ़ा देगा।

(विदेश) जाने वाले लोगों के लिये पाथेय (मार्ग का भोजन) देना व्यर्थ है, घर में किये गये श्राद्ध से ही रास्ते में तृप्ति मिल जायेगी।

स्वर्ग में स्थित (पितृगण) यदि यहाँ दान कर देने से तृत्त हो जाते हैं तो महल के ऊपर (कोठे पर) बैठे हुये लोगों को यहीं पर क्यों नहीं दे देते हैं?

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा धृतं पिवेत्।

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?

यदि गच्छेत्परं लोकं देहादेष विनिर्गतः।

कस्यात् भूयो न चायाति बन्धुस्नेहसमाकुल?

जब तक जीना है सुख से जीना चाहिये, ऋण लेकर भी धी पीना चाहिये (विलास करें) क्योंकि (मरने पर) भस्म के रूप में परिणत शरीर फिर (संसार में ऋण शोध के लिये) कैसे आ सकता है?

(यदि आत्मा शरीर से पृथक् है और) शरीर से निकलकर दूसरे लोक में चला जाता है तब बन्धुओं के प्रेम से व्याकुल होकर लौट क्यों नहीं जाता।

इसलिये ब्राह्मणों के द्वारा बनाया हुआ यह जीविकोपाय है-मृत व्यक्तियों के सारे मरणोन्तर कार्य इसके अतिरिक्त ये सब कुछ नहीं हैं। वेद के रचयिता तीन हैं-भौड़, धूत्र (ठग) और राक्षस। जर्मरी तुर्फरी आदि पण्डितों की वाणी समझी जाती है।

अश्वस्यात्र हि शिशनं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीत्रितम्

भाण्डैस्तदत्परं चैव ग्राह्य जातं प्रकीत्रितम् ॥

मांसानां खादनं तद् निशाचर समीरितम्।

इस (अवश्मेघ) में धोड़े के लिंग को पत्नी द्वारा ग्रहण कराने का विधान है-यह सब ग्रहण कराने का विधान भाड़ो का कहा हुआ है (यज्ञ में) मांस खाना भी राक्षसों (मांस के प्रेमियों) का कहा हुआ है। इसलिये बहुत से प्राणियों के कल्याण के लिये चार्वाकमत का आश्रय लेना चाहिये।

चार्वाक दर्शन लोकयत दर्शन है। खाने-पीने तथा प्रिय लगने वाली बातों का प्रचार करने के कारण इस दर्शन को काफी लोकप्रियता प्राप्त हुई। लोक (संसार) में फैले होने (प्रसारित) के कारण इसे 'लोकयत दर्शन' कहा जाता है। देवताओं के गुरु वृहस्पति द्वारा प्रणीत होने के कारण यह दर्शन 'बाह्यस्पत्य दर्शन' भी कहलाता है। ईश्वर और वेदों के प्रामाण्य का सर्वथा खण्डन करने के कारण यह 'नास्तिक दर्शन' भी कहलाता है। परम तत्व को जड़ या भौतिक मानने के कारण यह जड़वादी या भौतिकवादी दर्शन भी कहलाता है। चार्वाक प्रत्याक्ष को ही प्रमाण मानने के कारण पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु इन चार तत्वों की ही सत्ता स्वीकार करते हैं। अकाश के अस्तित्व को चार्वाक नहीं मानते हैं। चार्वाक दर्शन का तत्वमीमांसा सम्बन्धी विचार स्वभाववादी (Naturalistic) माना गया है क्योंकि चार्वाकों के मतानुसार जड़ परमाणुओं पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के संयोग से स्वभावतः सृष्टि होती है। जीवन में केवल सुख को ही पुरुषार्थ मानने वाले चार्वाक का आचार शास्त्र सम्बन्धी दृष्टिकोण सुखवादी माना गया है।

जहाँ तक चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा का प्रश्न है, चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। जिन वस्तुओं या सत्ताओं का ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष से नहीं प्राप्त किया जा सकता उनका कोई अस्तित्व नहीं है। इस प्रकार चार्वाक ईश्वर, आत्मा, मोक्ष जैसी अतीन्द्रिय वस्तुओं की सत्ता नहीं स्वीकार करते हैं। जीवन को उद्देश्य अधिकाधिक मात्रा में वत्रमानकालिक शारीरिक सुख प्राप्त करना है।

शब्दावली

तत्वमीमांसा : दर्शनशास्त्र की वह शाखा जिसमें परमतत्व को स्वरूप उनकी संख्या तथा जगत के साथ उसके सम्बन्धों का निरूपण किया जाता है।

ज्ञानमीमांसा : दर्शनशास्त्र की वह शाखा जिसमें ज्ञान की उत्पत्ति, प्रामाण्य और सीमा विचार किया जाता है।

आस्तिक दर्शन : भारतवर्ष में उत्पन्न वे दर्शन सम्प्रदाय जो वेदों को प्रमाण मानते हैं। आस्तिक कहलाते हैं।

नास्तिक दर्शन : वे दर्शन सम्प्रदाय जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते हैं। नास्तिक दर्शन तीन हैं- चार्वाक, जैन और बौद्ध।

षड्दर्शन : सम्पूर्ण आस्तिक दर्शनों की संख्या 06 है- न्याय, वैशेषिक, साँख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त। इनकी कुल संख्या 06 है अतः ये षड्दर्शन कहलाते हैं।

अतीन्द्रिय : वे वस्तुयें या सत्तायें जिनका ज्ञान इन्द्रियों से नहीं प्राप्त किया जा सकता या जिन सत्ताओं तक ज्ञानेन्द्रियों-आँख, कान, नाक, जिह्वा, त्वचा की पहुँच नहीं है। अतीन्द्रिय सत्ताये कहलाती हैं। प्रायः ईश्वर, आत्मा, मोक्ष, परलोक स्वर्ग आदि सत्तायें अतीन्द्रिय मान जाती हैं।

सूची प्रश्न

1. चार्वाक दर्शन के लोकायतिक नामकरण की व्याख्या कीजिए।
2. चार्वाक के ईश्वर सम्बन्धी विचारों की व्याख्या कीजिए।
3. चार्वाक दर्शन के मोक्ष एवं आत्मा सम्बन्धी अवधारणा का निरूपण कीजिए।
4. चार्वाक मत संग्रह पर एक समीक्षात्मक लेख लिखिये।
5. प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। चार्वाक दर्शन के इस मत की समीक्षा कीजिये।
6. चार्वाक अनुमान प्रमाण का खण्डन कैसे करते हैं? निरूपण कीजिये।
7. चार्वाक शब्द प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं। इस तथ्य की व्याख्या कीजिए।
8. लौकिक व्यवहार और वस्तुओं के सम्बन्ध में चार्वाकमत का मूल्यांकन कीजिए।

प्रदत्त कार्य

1. चार्वाक के आत्मा एवं मोक्ष सम्बन्धी विचारों का लोक जीवन पर पड़े प्रभाव का मूल्यांकन कीजिए।
2. चार्वाक के नैतिक विचारों की व्याख्या कीजिए। क्या जड़वाद को स्वीकार करते हुये भी नैतिक जीवन व्यतीत किया जा सकता है? स्वमत का निरूपण कीजिए।

3. संसार का निर्माण चतुर्भूतों के स्वाभाविक संयोग से हुआ है। चार्वाक के इस मत की व्याख्या कीजिए।

उपयोगी ग्रन्थ

- 1 प्रो० नन्दकिशोर देवराज : भारतीय दर्शन
- 2 प्रो० बद्रीनारायण सिंह : भारतीय दर्शन
- 3 उमा शंकर शर्मा “ऋषि” भाण्यकार -सर्वदर्शन संग्रह

NOTES

सर्वदर्शन संग्रह (बौद्ध दर्शन)

इकाई की रूपरेखा

भूमिका

उद्देश्य

4.4.1. बुद्ध के उपदेश चार आर्य सत्य, विवाद पराड़ मुख्ता

4.4.2. प्रथम आर्य सत्य (दुःख)

4.4.3. द्वितीय आर्य सत्य (दृढश निदान)

4.4.4. तृतीय आर्य सत्य (दुःख निरोध या निर्वाण)

4.4.5. चतुर्थी आर्य सत्य (दुःख निरोध मार्ग)

4.4.6. बुद्ध के उपदेशों में निहित दार्शनिक विचार

4.4.6.1 क्षाणिकत्व की भावना-अर्थ क्रिया कारित्व

4.4.6.2 अनात्मवाद

4.4.7. बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय -1 माध्यमिक या शून्यवाद

4.4.8. योगाचार या विज्ञानवाद

4.4.9. सौतान्त्रिक या वाह्यानुमेयवाद

4.4.10. वैभाषिक वाह्यप्रत्यक्षवाद

4.4.11. बौद्ध मत संग्रह

शब्दावली

सूची प्रश्न

प्रदत्त कार्य

उपयोगी ग्रन्थ

भूमिका :

बौद्ध धर्म के प्रवत्रक महात्मा बुद्ध थे। आपका जन्म बैशाखी पूर्णिमा को इसा पूर्व छठी शताब्दी में नेपाल की तराई में स्थित कपिल वस्तु नामक नगर में हुआ था। आपके पिता का नाम भुज्जोदन तथा माता का नाम मायादेवी था। जन्म के समय इनका नाम सिद्धार्थ रखा गया तथा बाद में इसका नाम परिवारिक नाम गौतम पड़ा राजमहल में समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धता के बावजूद, सुदर्शना पत्नी यशोधरा तथा पुत्र राहुल के साथ सुख पूर्वक राजगृह में रहते हये भी आपका मन सांसारिकता में नहीं लगता था।

संसार में व्याप्त दुःखों तथा उनसे आत्यन्तिक मुक्ति पाने के उपाय की खोज में आपने घर-परिवार छोड़कर सन्यास ग्रहण कर लिया। 12 वर्षों की अनवरत ध्यानस्थ साधना के उपरान्त आपको बोधि (पूर्णज्ञान) प्राप्त हुआ। ये बोधि (पूर्णज्ञान) प्राप्त कर बुद्ध कहलाये। इसी बोधि के आधार पर बौद्ध धर्म तथा बौद्ध दर्शन कायम हुये। महात्मा बुद्ध के सम्पूर्ण विचार एवं उपदेश चार आर्यसत्यों में निहित हैं। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त बौद्ध दर्शन चार दार्शनिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई में हम आपकों बौद्ध दर्शन तथा उसकी दार्शनिक मान्यताओं के बारे में जानकारी दे रहे हैं। इस इकाई को पढ़कर आप महात्मा बुद्ध द्वारा प्रतिपादित चार आर्य सत्यों-दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का निरोध है और दुःख निरोध का मार्ग है की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसके साथ ही इसी इकाई में महात्मा बुद्ध के उपदेशों में निहित दार्शनिक विचारों का भी अनुशीलन किया जायेगा। महात्मा बुद्ध की मृत्यु के उपरान्त सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन ज्ञान और सत्ता के प्रश्न को लेकर चार दार्शनिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। शून्यवाद, विज्ञानवाद, वैभाषित, सौताक्षिक मतों की अपनी-अपनी दर्शनिक मान्यतायें

है। प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य पाठकों को सीधी सरल भाषा में उक्त समस्त विषयों के बारे में जानकारी प्रदान करना है।

4.4.1 विवाद पराङ्मुखता-बुद्ध के उपदेश

भगवान् बुद्ध के उपदेशों का सांराश उनके चार आर्यसत्यों में निहित है। बोधि (ज्ञान) प्राप्ति के उपरान्त महात्मा बुद्ध ने इन चार आर्यसत्यों का सर्वप्रथम उपदेश वाराणसी (सारनाथ) में दिया। इन घटना को बौद्ध धर्म में ‘धर्मचक्र प्रवत्रन’ की संज्ञा दी गयी है। इन आर्यसत्यों का महत्व बतलाते हुय स्वयं बुद्ध महापरिनिर्वाण सन्त में कहते हैं-भिक्षुओं! इन चार आर्यसत्यों को भलीभाँति न जानने के कारण ही मेरा और तुम्हारा संसार में जन्म-मरण और दौड़ना दीर्घकाल से जारी रहा। इस आवागमन के चक्र में हम सभी दुःख भोगते रहे। विभिन्न योनियों में भटकते रहें अब इनका ज्ञान हो गया, दुःख का समूल विनाश हो गया अब आवागमन नहीं होना है।

कुछ त्रिपिटक ग्रन्थों से पता चलता है कि महात्मा बुद्ध के समय तथा उसके पूर्व से ही धर्म और दर्शन जगत में अतीन्द्रिय विषयों-आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, स्वर्ग, परलोक आदि के सम्बन्ध में घोर वाद-विवाद तथा तर्क वितर्क होते थे। धर्माचार्य इन विषयों के लेकर भौली-भाली जनता का शोषण करते थे वही दार्शनिक बौद्धिक विलास रूप में अतीन्द्रिय विषयों की विवेचना किया करते थे। महात्मा बुद्ध का उद्देश्य दुःख निवृत्ति के उपायों की मीमांसा करनी थी न कि अप्रत्यक्ष दार्शनिक तत्वों की मीमांसा। सो उन्होंने घोषणा की-जिन विषयों के समाधान के लिये पर्याप्त प्रमाण न हो उनके समाधान की चेष्टा व्यर्थ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष, अतीन्द्रिय विषयों के बारे में तर्क का इसलिये भी परित्याग किया कि इससे मोक्ष प्राप्ति में कोई मदद नहीं मिलती है। दुःखों से पीड़ित रहते हुये आत्मा तथा जगत के मूलतत्वों के बारे में अनुसंधान करना उसी तरह से मूर्खता है जैसे शिकारी छारा बाण से आहत हो जाने पर शरीर से तत्काल बाण निकालने के बजाय कोई व्यक्ति इस तर्क-वितर्क में समय गँवाये कि बाण चलाने वाला शिकारी किस जाति का था किस धर्म का था अथवा उसका रूप-रंग

कद-काठी कैसी थी? मुख्य समस्या है दुःख और उसकी निवृत्ति का उपाय का अनुसंधान। महात्मा बुद्ध ने निम्न दस प्रश्नों के समाधान असम्भव तथा व्यवहारिक दृष्टि से व्यर्थ समझा है। 1. वे प्रश्न इस प्रकार हैं-क्या यह लोक शाश्वत है? 2. क्या यह अशाश्वत है? 3. क्या यह सांत है? 4. क्या यह अनंत है? 5. आत्मा तथा शरीर क्या एक है? 6. क्या आत्मा शरीर से भिन्न है? 7. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म होता? 8. क्या मृत्यु के बाद तथागत का पुनर्जन्म नहीं होता है? 9. क्या पुनर्जन्म होता भी है, नहीं भी होता है? 10. क्या उसका पुनर्जन्म होना और न होना दोनों बातें असत्य हैं।

बौद्ध धर्म के पालि साहित्य में इन प्रश्नों को ‘अण्याकतानि’ कहते हैं। इन प्रश्नों का विवेचन व्यावहारिक दृष्टि से निष्फल है तथा उनका असंगीध ज्ञान मिल भी नहीं सकता। बुद्ध के उपदेशों का सार उनके चार आर्यसत्यों में निहित है। जो निम्नवत है।

- | | |
|---------------------|-----------------------------|
| 1. दुःख है | 2. दुःख का कारण है |
| 3. दुःख का निरोध है | 4. दुःख निरोध -का मार्ग है। |

4.4.2 प्रथम आर्यसत्य-दुःख है

महात्मा बुद्ध के अनुसार यह समूचा संसार दुःख है, दुःख का घर है और दुःख का साधन है (यहीं से दुःख मिलता है) दुःख का उपदेश देते हुये तथागत ने स्वयं प्रथम आर्यसत्य की व्याख्या करते हुये कहा है भिक्षुओं! चिरकाल तक माता के मरने का दुःख सहा है, पिता के मरने का दुःख सहा है, पुत्र के मरने का दुःख सहा है। पुत्री के मरने का दुःख सहा है। कुटुम्बों के मरने का दुःख सहा है, सम्पत्ति के विनाश का दुःख सहा है।

इन सभी प्रकार के दुःखों को सहने वालों ने संसार में बार-बार जन्म लेकर प्रिय के वियोग तथा अप्रिय के संयोग के कारण रोये-पीटे हैं आँसू बहाये हैं। वस्तुतः संसार दुःखात्मक है। कुछ नहीं तो जरायरण और जन्म का दुःख तो सबको भोगना ही पड़ता है। संसारिक सुखों के साथ हमेशा यह चिंता लगी रहती है कि कहीं वे नष्ट न हो जाय।

द्वितीय आर्यसत्य :

NOTES

अब यहाँ पर प्रश्न यह पैदा होता है कि संसार में हमें जो नाना प्रकार के दुःख मिल रहे हैं उनका मूल कारण क्या है? महात्मा बुद्ध का मन्तव्य है कि बिना कारण के किसी भी कार्य या घटना का प्रादुर्भाव नहीं होता है। दुःखों के पीछे बारह कारणों की एक लम्बी शृंखला है जिसे भव चक्र, संसार चक्र या द्वादश निदान कहा जाता है। ये कारण निम्नवत हैं।

1 जरामरण : जीवन के दुःखों का सांकेतिक नाम जरामरण है। जरा का अर्थ है बुढ़ापा और मरण का अर्थ मृत्यु या विनाश है। जो जन्म लेता है वह बुढ़ापा को प्राप्त होता है तथा एक दिन मरता है। जन्म लेने के बाद उसके अंगो-प्रत्यंगो का निर्माण होता है तथा निर्माण के बाद क्षय प्रारम्भ हो जाता है यही क्षय या विनाश जरा है।

जाति : जन्म ग्रहण करना ही जाति है। यदि व्यक्ति का जन्म ही न हो तो जन्म के उपरान्त मिलने वाले कष्टों की प्राप्ति का कोई प्रश्न ही नहीं। अतः जाति या जन्मग्रहण ही दुःखों का मूल कारण है।

भव : जीव जन्म ही क्यों ग्रहण करता है उत्तर है जन्म लेने की प्रवृत्ति के कारण। सांसारिक विषय भोगों में बड़ा सुख मिलता है इसलिये जीव बार-बार जन्म लेकर अनेक प्रकार से विषयों का भोग करना चाहता है। जिसके लिये वह जन्म ग्रहण करना चाहता है। अतः जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति ही जन्म का मूल कारण है।

उपादान : अब यदि कहा जाय कि जन्म ग्रहण करने की प्रवृत्ति जीव में क्यों पायी जाती है तो उत्तर है सांसारिक विषयों के प्रति जो हमारा उपादान अर्थात् उनसे लिपटे रहने की अभिलाषा है वही हमारी जन्म प्रवृत्ति का कारण है।

तृष्णा : यह विषयों के प्रति आसक्ति है। हमारी इन्द्रियों का जब विषयों से सम्पर्क होता है तो हम सुखकर विषयों का ग्रहण करना चाहते हैं तथा दुःखकर विषयों का त्याग करना चाहते हैं। सुखकर विषयों के प्रति जो हमारा आकर्षण होता है वही तृष्णा है। साधारणतः तृष्णा का अर्थ व्यास होता है। हम विषय

सुख भोगने के लिये सर्वदा लालायित तथा प्यासे रहते हैं। यही व्यास आसक्ति है बौद्ध दर्शन में इसे ही जन्म और मरण का यथार्थ कारण माना गया है।

वेदना : इन्द्रियों और विषय के सम्पर्क से हमें जो अनुभूति होती है वही वेदना है। इन्द्रियों के द्वारा जो हमें वेदना (अनुभूति) होती है उसी से हमारी तृष्णा जगी रहती है।

स्पर्श : यह इन्द्रिय और विषय के सम्पर्क या संयोग की अवस्था है। हमें छः प्रकार की इन्द्रियों से छः प्रकार के विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है।

षडायतन : स्पर्श के लिये पंच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन आवश्यक है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन के समूह को षडायतन है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं-आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा इनसे हमें रूप, शब्द, गन्ध, स्वाद और स्पर्श का ज्ञान प्राप्त होता है। मन से हमें सुख, दुःख आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। जब व्यक्ति माता के उदर से बाहर आता है तो इसे छः प्रकार की इन्द्रियों नाना विधि विषयों का ज्ञान प्राप्त होने लगता है।

नामरूप : गर्भस्थ भूण के शरीर और मन को नामरूप कहते हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार गर्भ क्षण से लेकर शारीरिक और मानसिक अवस्थाओं की रचना का समय ही नामरूप कहलाता है।

विज्ञान : व्यक्ति पूर्वजन्म के कर्मानुसार माता के गर्भ में आकर सर्वप्रथम चैतन्य की अवस्था को प्राप्त होता है। इस चैतन्य की अवस्था में ही उसे इन्द्रियों तथा विषय भोगों की जानकारी प्राप्त होने लगती है। गर्भ में आते ही मानव में भोग के विषयों की जानकारी प्रारंभ हो जाता है।

संस्कार : संस्कार पूर्वजन्म की कर्मावस्था है जिसके कारण हमने पाप-पुण्य रूप कर्म किया है तथा अच्छा या बुरा फल भोग रहे हैं। कर्मों के कारण जो संस्कार बनते हैं उन्हीं के कारण विज्ञान संभव हो सकता है।

अविद्या : अविद्या, अज्ञानता या मिथ्या ज्ञान के कारण जीव क्षाणिक, असार एवं अनित्य सांसारिक वस्तुओं को स्थायी सारस्वरूप और नित्य तथा आत्मस्वरूप समझ लेता है। परिणाम स्वरूप भोग पदार्थों की प्राप्ति हेतु उसके मन में काम, क्रोध,

लोभ-मोह आदि की उत्पत्ति होती है और मनुष्य नानाविध कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

दुःख के उक्त बारह कारणों का सम्बन्ध वत्रमान, भूत और भविष्य तीनों जीवन से हैं। वत्रमान जीवन, पूर्व-जीवन का परिणाम है और वत्रमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था की उत्पत्ति होती है।

4.4.4 तृतीय आर्यसत्य (दुःख निरोध या निर्वाण)

द्वितीय आर्यसत्य में अपने देखा कि महात्मा बुद्ध ने मानव जीवन में प्राप्त होने वाले दुःखों हेतु कारणों की एक लम्बी शृँखला बतलायी है। यदि इन कारणों (द्वादश निदान) को नष्ट कर दिया जाय तो दुःख निवृत्ति संभव है। दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति जिससे वे फिर कभी न पैदा हो सकें। निर्वाण या मोक्ष कहलाता है।

निर्वाण की प्राप्ति जीवन के रहते भी हो सकती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह ये हमारे आध्यात्मिक जीवन के शत्रु हैं यदि इन पर विजय प्राप्त करके व्यक्ति संसार में अनासक्त भाव से होकर कर्म करे तो कर्म जन्य संस्कार पैदा नहीं होंगे परिणामस्वरूप संस्कार जन्य बन्धन नहीं होगा और जीव दुःखों से निवृत्ति प्राप्त कर सकता है। मोक्ष प्राप्त व्यक्ति को “अर्हत्” कहते हैं। निर्वाण रागद्वेष तथा तज्जन्य दुःखों के नाश की अवस्था है। यहाँ एक प्रश्न पैदा होता है कि क्या निर्वाण प्राप्त कर लेने के बाद जीवन (मनुष्य) कर्ममय जीवन से बिरत हो जाता है? और यदि नहीं तो कर्म करने पर फल (संस्कार) अवश्य पैदा होंगे और यही पुनः बन्धन का कारण बनेगा। निर्वाण अकर्मण्यता की स्थिति नहीं है। यदि ऐसा ही है तो फिर कर्म+फल+संस्कार के सम्बन्धों का क्या होगा? महात्मा बुद्ध का विचार है कि कर्म दो प्रकार के होते हैं-

1. सकाय कर्म : यह कर्म राग द्वेष और मोह के कारण होता है। इस प्रकार का कर्म विषयों में हमारी आसक्ति को बढ़ाता है और बन्धन का कारण होता है।

2. निष्काम कर्म : यह कर्म अनासक्त भाव से संसार को क्षणिक, हेय, और अनात्म समझकर किया जाता है। बिना राग-द्वेष और मोह के किया गया यह कर्म संस्कार नहीं पैदा करता। परिणामस्वरूप पुनर्जन्म की संभावना नहीं रहती है।

कर्मों के उक्त भेद को एक उदाहरण के माध्यम से और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। साधारण ढंग से बीज को बौने से उसमें से अंकुर फूट पड़ता है परन्तु यदि बीज को भूनकर बोया जाय तो अंकुरण नहीं होता है। ठीक इसी तरह से संसार में विषयानुशवित्त से रहित होकर यदि जल में रहने वाले कमल जैसी स्थिति में संसार में निवास किया जाय तो कभी भी बन्धन नहीं पैदा होता है। स्वयं महात्मा बुद्ध भी निर्वाण प्राप्ति के बाद कभी भी निष्क्रिय नहीं रहे।

यहाँ पर एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि निर्वाण को अर्थ जीवन का नाश नहीं बल्कि दुःखों का अंत है। स्वयं महात्मा बुद्ध भी निर्वाण प्राप्ति के बाद काफी दिनों तक पूर्ण सक्रिय रहे। धर्म प्रचार, परिभ्रमण, संघ स्थापन आदि कार्य तो महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के बाद ही किये थे। निर्वाण से दो तरह के लाभ होते हैं-प्रथम तो यह है कि निर्वाण प्राप्ति के बाद पुनर्जन्म और तज्जनित दुःख संभव नहीं है क्योंकि जन्मग्रहण के लिये जो आवश्यक कारण हैं वे नष्ट हो जाते हैं दूसरा लाभ यह है कि जो निर्वाण प्राप्त कर लेता है उसका जीवन मृत्युपर्यन्त पूर्णज्ञान और शान्ति के साथ बीतता है। निर्वाण की अवस्था पूर्णतया शान्त, स्थिर तथा तृष्णा विहीन होती है।

अब कोई व्यक्ति यह प्रश्न पूछे कि निर्वाण प्राप्त कर लेने बाद व्यक्ति की क्या स्थिति होती है मोक्ष का क्या स्वरूप होता है तो इसका उत्तर यही है कि निर्वाण वर्णनातीत है। जैसे उपनिषदों में परमतत्व के विवेचन के सन्दर्भ में कहा जाता है कि “य तो वाचा निवत्रन्ते अप्रात्य मनसा सह” अर्थात् जहाँ से मन और वाणी लौट आते हैं, वर्णन नहीं कर पाते हैं। ठीक उसी तरह से महात्मा बुद्ध निर्वाण को वर्णनातीत मानते हैं। यह दिव्य अनुभूति का विषय है सामान्य

विवेचन का नहीं। निर्वाण के स्वरूप तथा उसकी अनुभूति को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

4.4.5 चतुर्थ आर्य सत्य : दुःख निरोध-मार्ग

चतुर्थ आर्यसत्य में महात्मा बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के मार्ग का विवेचन किया है। अष्टांगिक मार्ग वह साधन है जिस पर चलकर जीव निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। यह मार्ग निम्नवत् है।

सम्यक् दृष्टि : अविद्या य अज्ञानता के कारण ही संसार तथा सांसारिक वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप समझ में नहीं आता है-परिणामस्वरूप हम अनित्य दुःखद और अनात्म वस्तुओं को नित्य, सुखद और आत्मस्वरूप समझ बैठते हैं। यही मिथ्या दृष्टि सभी बुराइयों एवं दुःखों मूल कारण है। इस दृष्टि का परित्याग कर वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर सतत् ध्यान रखना चाहिये।

सम्यक् संकल्प : दृढ़ निश्चय करना ही सम्यक् संकल्प है। सम्यक् संकल्प के दो अंश हैं-शुभ संकल्प का ग्रहण करना और अशुभ संकल्प का परित्याग। जो निर्वाण चाहते हैं उन्हें सांसारिक विषयों की आसक्ति, दूसरों के प्रति विद्वेश और हिंसा इन तीनों के परित्याग का संकल्प करना चाहिये।

सम्यक् वाक् : अनुचित वचन का त्याग ही सम्यक् वाक् है। अनुचित वचन चार प्रकार के हैं-मिथ्यावचन, चुगली करना, कठोर वचन, वर्ध बकवास। इनका परित्याग कर मितभाषी (संक्षिप्त) मूदुभाषी (मीठे वचन) और मंगलभाषी (कल्याणकारी) होना चाहिये।

सम्यक् कर्मान्त : सम्यक् संकल्प केवल वाणी का ही आदर्श नहीं है। बल्कि सम्यक् संकल्प को हमें अपने व्यावहारिक जीवन में भी उतारना चाहिये। अहिंसा अस्तेय तथा इन्द्रिय संयम ही सम्यक् कर्मान्त है।

सम्यक् आजीव : जीविन निर्वाह के लिये उचित मार्ग का अनुसरण तथा निषिद्ध मार्ग का त्याग ही सम्यक् आजीव है। दूसरों को क्लेश देकर, दूसरों की हिंसा कर जीविकोपार्जन करना वर्जित है।

सम्यक् व्यायाम : जिन विषयों का हमें ज्ञान प्राप्त हो गया है अथवा जिन आदर्शों को हमने जीवन में उतारने का संकल्प कर लिया है। उनका बारम्बार अध्यास ही सम्यक् व्यायाम है। इस हेतु निम्न प्रक्रिया का निरन्तर पालन करना चाहिये।

NOTES

1. पुराने बुरे भाव का पूरी तरह नाश हो जाय। 2. नये बुरे भाव भी मन में न आये। चूँकि मन कभी विचारों से खाली नहीं रह सकता अतः 3 मन को बराबर अच्छे-अच्छे विचारों से पूर्ण रखना आवश्यक है। 4. इन शुभ विचारों को मन में धारण करने के लिये सतत् चेष्टा करते रहना आवश्यक है।

सम्यक् व्यायाम के उपदेश से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि धर्म मार्ग में बहुत आगे बढ़े हुये व्यक्ति को भी निरन्तर सजग रहने की आवश्यकता है। जीवन की थोड़ी सी चूक व्यक्ति को पथ ब्रष्ट कर देगी परिणाम स्वरूप मोक्ष साधना भंग हो जायेगी।

सम्यक् स्मृति : यह संसार बड़ा लुभावना है। विषयभोगों की चाहत इतनी आसानी से समाप्त नहीं होती है। जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त हो चुका है उन्हे बराबर स्मरण करते रहना आवश्यक है नहीं तो क्या पता जीवन के किस क्षण, किस अवस्था अथवा किस मोड़ पर विषयों में पुनः आसाक्षित हो जाय और सारी साधना पर पानी फिर जाय। इसलिये निर्वाण के पथिक को निरन्तर सावधान रहने की आवश्यकता है। इसलिये बुद्ध कहते हैं शरीर को शरीर, वेदना को वेदना, चित्त को चित्त और मानसिक अवस्था को मानसिक अवस्था के रूप में ही चिन्तन करते रहना आवश्यक है।

सम्यक् समाधि : उपर्युक्त सात सोपानों की सिद्धि के उपरान्त साधक सम्यक् समाधि में प्रवेश करने योग्य हो जाता है और समाधि की चार अवस्थाओं को पार करने के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति कर लेता है। समाधि की चार अवस्थायें निम्नवत् हैं-

1. ध्यान की पहली अवस्था में साधक एकाग्रचित्त हो वाह्य विषयों से ध्यान को हटाकर केवल आर्यसत्यों पर ही चितंन करता है। आर्यसत्य सम्बन्धी अनेक तर्क-वितर्क उसके मन में उठते हैं और सन्देह का उदय होता है।

2. ध्यान की द्वितीय अवस्था में साधक के सन्देह दूर हो जाते हैं तथा आर्य सत्यों के प्रति शब्दा का उदय होता है। साधक को ध्यान जन्य आनन्द का अनुभव होता है।
3. तीसरी अवस्था में साधक का ध्यान आनंद से भी हट जाता है तथा उसके मन में उपेक्षा भाव का उदय होता है परन्तु दैहिक सुख का मान रहता है।
4. ध्यान की चौथी अवस्था में चित्त की साम्य अवस्था, दैहिक सुख एवं समाधि के आनन्द किसी का भी अहसास नहीं होता। चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है यह अवस्था पूर्ण शान्ति, पूर्ण वैराग्य तथा पूर्ण निरोध की है। यह सुख और दुःख दोनों से रहित अवस्था है। इस प्रकार दुःखों का सर्वथा निरोध हो जाता है और अर्हत्व या निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है। यह पूर्ण प्रज्ञा की अवस्था है।

4.4.6 बुद्ध के उपदेशों में निहित दार्शनिक विचार

क्षणिकत्व की भावना- अर्थ क्रियाकारित्व

महात्मा बुद्ध कारण-कार्य सिद्धान्त में विश्वास करते थे। उनका मानना था कि प्रत्येक कार्य के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य है। बिना कारण के किसी भी कार्य या घटना का प्रादुर्भाव नहीं होता है। अतः कारण के नष्ट हो जाने पर कार्य स्वतः ही नष्ट हो जायेगा। इस प्रकार संसार की समस्त वस्तुयें अनित्य एवं नाशवान हैं। महात्मा बुद्ध के इस अनित्यवाद सिद्धान्त को उनके शिष्यों ने क्षणिकवाद में बदल दिया। क्षणिकवाद का अर्थ है किसी भी वस्तु का अस्तित्व सनातन नहीं। किसी वस्तु का अस्तित्व कुछ काल तक ही रहता है। जिस प्रकार एक प्रवाह दूसरे प्रवाह को जन्म देता है। दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को उसी प्रकार एक क्षण दूसरे को तथा दूसरा तीसरे को जन्म देता है। यह प्रवाह नित्यता है। इस प्रवाह नित्यता या सन्तान को ही हम भ्रमवश सनातन या शाश्वत मान लेते हैं वास्तव में कोई भी वस्तु शाश्वत या नित्य है। सब कुछ अनित्य, दुःखात्मक और अनात्मस्वरूप है। नदी के प्रवाह की भाँति सभी वस्तुयें सतत् परिवर्तन की अवस्था में हैं।

“अर्थ क्रियाकारित्व लक्षणं सत्” अर्थात् सत्ता वह है जो कुछ कार्य उत्पन्न करने की क्षमता रखे। शश-विषाणु के सदृश असत् वस्तु कभी कोई कार्य उत्पन्न नहीं कर सकती। यदि सत्ता का यही लक्षण है तो इससे सिद्ध किया जा सकता है कि सत्ता क्षणिक है। एक बीज का उदाहरण लिया जाय। यदि बीज की सत्ता स्थायी है तो फिर उससे प्रत्येक क्षण एक ही प्रकार का कार्य होना चाहिये। लेकिन हम जानते हैं कि बीज जब बोरे में बंद रहता है तो उससे कार्य (अंकुरण) नहीं होता। और वही बीज जब जमीन में बो दिया जाता है तो उससे कार्य (अंकुरण) हो जाता है। यहाँ पर प्रतिपक्षी यह कह सकता है कि यह बात सही है कि प्रत्येक क्षण बीज से एक ही प्रकार का कार्य नहीं होता परन्तु उसमें कार्योत्पादन की क्षमता हमेशा रहती है और जैसे ही वह मिट्टी, खाद, पानी, प्रकाश आदि के सम्पर्क में आता है तो उससे कार्य हो जाता है। अतः बीज सदैव एक है अर्थात् स्थायी हैं। स्पष्ट है कि यह मुक्ति बहुत कमजोर है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि बीज के पूर्व रूप से अर्थात् जब उसमें मिट्टी, खाद, पानी, प्रकाश आदि से सम्पर्क नहीं था तो उससे कार्य नहीं हुआ जैसे ही उसकी स्थितियों में परिवर्तन आया अर्थात् खाद, मिट्टी, पानी, प्रकाश से सम्पर्क हुआ, अंकुरण फूट पड़ा। अतः बीज दोनों अवस्थाओं में एक नहीं रहता वरं वह परिवात्रित हो जाता है। उक्त उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है कि संसार की सभी-वस्तुये प्रतिक्षण बदलती रहती हैं।

अनात्मवाद :

दार्शनिक जगत में अधिकांश दार्शनिक यह मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर आत्मा नाम की अजर, अमर, अविनाशी सत्ता है। शरीर के नष्ट हो जाने के उपरान्त यही अविनाशी आत्मा पुनर्जन्म के रूप में दूसरी शरीर के रूप में प्रवेश कर जाती है। महात्मा बुद्ध पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुये भी अमर अविनाशी सत्ता के रूप में आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं। अब यहाँ एक प्रश्न यह पैदा होता है कि मृत्यु के साथ शरीर नष्ट हो जाती है। स्थायी आत्मा नाम की कोई सत्ता है नहीं तो फिर किसका पुनर्जन्म नाम और किस प्रकार? उत्तर बौद्ध दर्शन से-स्थिर आत्मा के अस्तित्व को

अस्वीकार करते हुये भी बुद्ध यह स्वीकार करते थे कि जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यास्थित अवस्थाओं का प्रवाह या संतान मात्र है। विभिन्न अवस्थाओं के निरन्तर प्रवाह को ही जीवन कहते हैं जिसमें एक अवस्था (वत्रमान) अपनी परवर्ती अवस्था का कारण होती है। जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में पूर्वापर कारण कार्य का सम्बन्ध रहता है। इसलिये सम्पूर्ण जीवन एक मय मालूम पड़ता है। प्रत्येक क्षण की ज्योति दीपक की तत्कालीन अवस्थाओं पर निर्भर होती है। क्षण-क्षण में दीपक की अवस्थायें बदलती रहती हैं। अतः प्रतिक्षण ज्योति भी भिन्न-भिन्न होती हैं। लेकिन ज्योतियों के भिन्न-भिन्न होने पर भी वे बिल्कुल अविच्छिन्न मालूम पड़ती हैं। ठीक यही स्थिति जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के साथ हैं। जहाँ तक पुनर्जन्म की बात है। वत्रमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रारंभिक अवस्था की उत्पत्ति होती है। किन्तु दोनों दो पृथक् जीवन हैं।

महात्मा बुद्ध का विचार है कि मनुष्य केवल एक समष्टि का नाम है। जिस प्रकार चक्र, धुरी, नेमि आदि के समूह को रथ कहते हैं उसी प्रकार वाद्य रूपयुक्त शरीर, मानसिक अवस्थायें और रूपहीन संज्ञा (या विज्ञान) के समूह या संघात को मनुष्य कहते हैं। इस संघात के अतिरिक्त आत्मा नाम की कोई अतिरिक्त सत्ता नहीं है। जब तक इनकी समष्टि कायम है तब तक मनुष्य का आस्तित्व है और जिस दिन या जिस क्षण यह समष्टि नष्ट हो जायेगी उसी क्षण मनुष्य का अंत हो जायेगा। इस प्रकार हम संक्षेप में कह सकते हैं कि जीवन विभिन्न परिवर्वनशील अवस्थाओं का एक अनवरत प्रवाह मात्र है पूर्ववर्ती तथा परवर्ती अवस्था में कारण कार्य का सम्बन्ध होता है। स्थायी आत्मा नाम की सत्ता में विश्वास करना उसी प्रकार से मूर्खता है जैसे कोई व्यक्ति ऐसी सुन्दरी रमणी से प्रेम करे, जिसको न देखा हो, न सुना हो और न उसकी कल्पना ही किया हो।

4.4.7 बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय

पाठकों का ध्यान आकृष्ट करते हुये हम यहाँ बताना चाहेंगे कि महात्मा बुद्ध अतीन्द्रिय, तत्त्वमीमांसीय प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं देते थे। उनका मानना था कि

मानव मात्र के लिये सर्वप्रथम आवश्यक है दुःख के मूल कारणों की खोज के साथ दुःख निवृत्ति का उपाय ढूँढना। परन्तु बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनके अनुयायियों ने उनके मौन के विविध अर्थ निकाले और अस्तित्व तथा ज्ञान सम्बन्धी प्रश्नों को लेकर सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन कालान्तर में चार दार्शनिक सम्प्रदायों में विभक्त हो गया आस्तित्व सम्बन्धी प्रश्न यह है कि वाह्य या मानसिक किसी वस्तु का आस्तित्व है या नहीं? यदि आस्तित्व है तो उसका ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इस प्रश्न के तीन उत्तर दिये गये

1. **माध्यमिक या शून्यवादी** : वाह्य या मानसिक किसी वस्तु का कोई आस्तित्व नहीं है। सब कुछ शून्य है।
2. **योगाचारी या विज्ञानवादी** : वाह्य वस्तुओं का कोई आस्तित्व नहीं है। मानसिक अवस्थायें या विज्ञान ही एकमात्र है।
3. **कुछ बौद्ध** यह मानते हैं कि मानसिक तथा वाह्य सभी वस्तुयें सत्य हैं अतः ये सर्वास्तिवादी कहलाये हैं।

ज्ञान सम्बन्धी प्रश्न इस प्रकार है वाह्य वस्तुओं का ज्ञान कैसे प्राप्त होता है? इनके ज्ञान के लिये क्या प्रमाण है?

जो लोग यह मानते हैं कि वाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष से न प्राप्त होकर केवल अनुमान द्वारा ही प्राप्त होता है वे वाह्यानुयेयवादी या सौतात्तिक कहलाये।

जो लोग यह मानते हैं कि वाह्य वस्तुओं का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त होता है वे वैभाषिक या वाह्य प्रत्यक्षवादी कहलाये।

माध्यमिक या शून्यवाद :

इन मत के प्रवत्रक आचार्य नागार्जुन थे। प्रायः इस मत को माध्यमिक या मध्यम मार्ग कहा जाता है क्योंकि इसके अनुसार वस्तु का स्वरूप न तो पूर्णतः भावरूप है और न अभाव रूप ही। इनका मत शून्यवाद भी कहलाता है क्योंकि शून्य ही परमतत्व है तत्व का यथार्थ स्वरूप बुद्धि के समस्त विकल्पों के परे है। ‘शून्य एव धर्मः’ शून्य ही परम तत्व है। अतः यह मत शून्यवाद कहलाया।

प्रत्यक्ष जगत के परे पारमार्थिक सत्ता अवश्य है लेकिन वह अवर्णनीय है। उसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता कि वह मानसिक है या वास्त्य/साधारण लौकिक विचारों के द्वारा अवर्णनीय होने के कारण उसे 'शून्य' कहा जाता है। सत्य का लक्षण निरूपण करते हुये शून्यवाद में कहा गया है सत्य वह है जो निरपेक्ष है, जो अपने आस्तित्व के लिये अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है। किन्तु साधारणतः जितनी वस्तुओं को हम जानते हैं वे किसी न किसी वस्तु पर अवश्य निर्भर हैं स्पष्ट है ऐसी स्थिति में उन्हें सत्य नहीं कहा जा सकता। उन्हे असत्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनका प्रत्यक्ष होता है यदि वे भभश्रृंग या आकाश कुसुम की तरह बिल्कुल असत्य होती तो उनका प्रत्यक्ष न होता। ऐसी स्थिति में क्या हम कह सकते हैं कि ये सत्य और असत्य दोनों हैं या ये कह सकते हैं कि ये न तो सत्य है और न असत्य। ऐसा कहना तो बिल्कुल विरुद्ध होगा। इस प्रकार स्पष्ट है कि पारमार्थिक सत्ता या परमतत्व बिल्कुल अवर्णनीय है इस वर्णनातीत तत्व को शून्यता कहते हैं। इसी बात को तार्किक रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है साधारणतः हमें वस्तुओं की प्रतीति तो होती है परन्तु जब हम उनके तत्त्विक स्वरूप को जानने के लिये उद्यत होते हैं तो हम एक विरोधाभास की स्थिति में खड़े हो जाते हैं। हम यह निश्चय नहीं कर पाते हैं कि वस्तुओं को यथार्थ स्वरूप 1. सत्य है 2. असत्य है या 3. सत्य और असत्य दोनों हैं। 4. न तो सत्य है और न असत्य।

वस्तुओं का स्वरूप इन चार कोरियों से रहित होने के कारण 'शून्य' है। माध्यमिक कारिका मे कहा गया है।

न सन्नासन्न सदसन्न चात्यनुभयात्यकम्

चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्वं माध्यमिका विदुः॥

संसार असत् या शून्य हैं-द्रष्टा, दृश्य, दर्शन सभी स्वटन के समान भ्रम है।

बुद्धया विविच्यामानानां स्वभावो नावधायति

अतो निरमिलत्यास्ते निःस्वभावाश्च दार्शितः॥

इस प्रकार वस्तुओं के परावलम्बन को, उनकी निरंतर परिवर्तनशीलता को, उनकी अवर्णनीयता को शून्य कहा जाता है। तत्व सम्बन्धी अपने विचारों को और

अधिक स्पष्ट करने हुये नागार्जुन कहते हैं सत्य दो प्रकार का होता है-1.संवृत्ति

सत्य 2. पारमार्थिक सत्य

संवृत्ति सत्य : व्यावहारिक जीवन का सत्य है। यह पूर्ण सत्य न होते हुये भी व्यावहारिक जीवन इसी पर अवलम्बित है। उसी तरह से जैसे किसी व्यक्ति का फोटो तात्त्विक रूप से कागज है परन्तु व्यावहारिक रूप में व्यक्ति विशेष की पहचान का कारण बनता है। ठीक इसी रूप में जागतिक वस्तुओं की सत्ता देखी और समझी जानी चाहिये। व्यावहारिक जगत से परे पारमार्थिक सत्ता अवश्य है परन्तु साधारण लौकिक साधनों-मन और वाणी से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः उसे वेदान्त की भाषा में ‘अनिर्वचनीय’ कहा जा सकता है और माध्यमिक की भाषा में शून्य।

NOTES

4.4.8 योगाचार या विज्ञानवाद

विज्ञानवादी, शून्यवादियों के इस मत से सहमत है कि वास्त्य वस्तुओं का अस्तित्व नहीं है। परन्तु वे इस मत को स्वीकार नहीं करते कि चित्त या मन का भी अस्तित्व नहीं है। विज्ञानवादियों के अनुसार विज्ञान, मन, और चित्त सभी समानार्थक है अथवा पर्यायवाची है। लंकावतार सूत्र के अनुसार-चेतन क्रिया से सम्बद्ध होने के कारण विज्ञान, चित्त कहलाता है, मनन क्रिया से सम्बद्ध होने से मन, और विषयों का ग्राहक होने से विज्ञान है। अतः मन, चित्त, विज्ञप्ति और विज्ञान के रूप में केवल विज्ञान की ही सत्ता है।

चित्तमालय विज्ञानं मनो यन्मन्त्रमात्कम

ग्रहणाति विषयान् येन विज्ञानं हि तदुच्यते।

‘लंकावतार सूत्र’ विज्ञानवाद के अनुसार चित्त की ही एक मात्र सत्ता है। विज्ञान प्रवाह को ही चित्त कहा जाता है। जिस तरह जब हम स्वप्न देखते रहते हैं उस समय समस्त वास्त्य जगत और उससे सम्बंधित वस्तुयें, बाहर प्रतीत होती हैं और तदनुसार हम व्यवहार भी करते हैं जब कि स्वप्नावस्था की समस्त वस्तुयें हमारे मन के अन्दर घटित होती हैं, वास्त्य जगत से उसका कुछ नहीं लेना-देना होता है ठीक उसी तरह से सामान्य जाग्रतावस्था में भी हमारे शरीर तथा अन्य

जागतिक वस्तुयें जो मन के बाहर मालुम पड़ती हैं वे सभी हमारे मन के अन्तर्गत हैं। चूँकि किसी वस्तु तथा तत्सम्बन्धी ज्ञान में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता इसलिये वात्य वस्तु का आस्तित्व बिल्कुल असिद्ध है। धर्मकीर्ति कहते हैं कि नीले रंग तथा नीले रंग के ज्ञान में कोई अद नहीं किया जा सकता क्योंकि दोनों का पृथक् आस्तित्व नहीं है यथार्थतः दोनों एक हैं। दृष्टि दोष के कारण कोई व्यक्ति चन्द्रमा को दो देख सकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चन्द्रमा दो हैं। किसी वस्तु का ज्ञान, ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। अतः यह किसी तरह से प्रमाणित नहीं किया जा सकता कि ज्ञान से विभिन्न वस्तु का कोई आस्तित्व भी है।

वात्य वस्तुओं का खण्डन करने के लिये विज्ञानवादी ठोस तर्क भी देते हैं। इनके अनुसार यदि कोई वात्य वस्तु है तो वह या तो अणु मात्र है या अणुओं के योग से बनी हुई (अणुओं को संघात)। अब यदि वह अणुमात्र है तो उसका प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता क्योंकि अणु इतना सूक्ष्म होता है वह प्रत्यक्षगम्य नहीं हो सकता फिर यही समस्या अणुओं के संघात से बनी वस्तुओं के प्रत्यक्ष में भी आती है। जब हम एक अणु का प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तो उस स्थिति में अणुओं के संघात से बनी वस्तु का प्रत्यक्ष तो संभव ही नहीं है। अतः हम कह सकते हैं कि वात्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। अतः मन के बाहर यदि किसी वस्तु का आस्तित्व माना भी जाय तो भी उसका ज्ञान असंभव है। अतः हम कह सकते हैं कि वात्य वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है आंतरिक विज्ञान ही वात्य वस्तुओं के रूप में प्रतीत होते हैं। विज्ञानवादी मन को आलय विज्ञान कहते हैं क्योंकि वह विभिन्न विज्ञानों का आलप या भण्डार हैं। सभी ज्ञान इसमें बीजरूप में निहित रहते हैं। परन्तु अन्य दर्शनों की आत्मा की भाँति यह नित्य और अपरिवत्रनशील नहीं हैं। यह तो परिवर्नशील चित्तवृत्तियों का एक प्रवाह है। जिस तरह तालाब में चंचल लहरें उठती रहती हैं। उसी तरह से मन में विषय-वासनायायें रूपी लहरें उठती रहती हैं। जब तक इस आलय विज्ञान को वश में न कर लिया जाय तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। अध्यास तथा

आत्मसंयम के द्वारा आलय विज्ञान को वश में किया जा सकता है परिणाम स्वरूप उससे विषय-विज्ञान की उत्पत्ति रोकी जा सकती है और इससे निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। योगाचार दर्शन के प्रवत्रक असंग, बसुबंधु तथा दिङ्नागये।

NOTES

4.4.6 सौतान्त्रिक या वाह्यानुमेयवाद

सौतान्त्रिक आन्तर जंगत-चित्त और वाह्य जगत दोनों की सत्ता स्वीकार करते हैं। विज्ञानवादियों का कहना है कि वाह्य वस्तुओं की कोई सत्ता नहीं है आन्तरिक विज्ञान ही भ्रम वश या प्रतीति वश वाह्य वस्तु के रूप में प्रतीत होते हैं। सौतान्त्रिक इस बात का जोरदार खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि यदि वाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को न माना जाय तो वाह्य वस्तुओं की प्रतीति कैसे होती है हम इसका समुचित उत्तर नहीं दे सकते। जिसने वाह्य वस्तु को कभी प्रत्यक्ष नहीं देखा है वह यह नहीं कह सकता कि भ्रमवश अपनी मानसिक अवस्था ही वाह्य वस्तु के सदृश प्रतीत होती है। उसके लिये वाह्य वस्तु के सदृश कहना उसी तरह अर्थहीन है जैसे बन्ध्या पुत्र।

विज्ञानवादियों का यह कहना कि वस्तु और उसके ज्ञान में कोई भेद नहीं है इसलिये वाह्य वस्तु की सत्ता नहीं। सौतान्त्रिक इस बात को भी सिरे से नकार देते हैं। उनका कहना है जब हमें घड़े का प्रत्यक्ष होता है तो इस बात की हमें स्पष्ट अनुभूति होती है कि घड़ा मुझसे स्वतन्त्र वाह्य जगत में विद्यमान है जबकि घड़े से सम्बन्धित ज्ञान हमारे आन्तर जागत का विषय है। इसके साथ की यदि वाह्य वस्तुओं का स्वतन्त्र आस्तित्व न होता तो दो ज्ञानों (घट ज्ञान और पठ ज्ञान) के बीच अन्तर कैसे स्थापित किया जाता। यदि घड़ा और कपड़ा (पृथक-पृथक वस्तु नहीं) केवल ज्ञान है तो उस स्थिति में उनमें अन्तर नहीं किया जा सकता। जबकि हमारा व्यावहारिक अनुभव बतलाता है कि घड़ा और कपड़ा दोनों दो पृथक् पृथक् वस्तुयें हैं।

एक बात और है यदि ज्ञान केवल हमारे मन पर निर्भर होता तो हम जहाँ चाहते, जब चाहते इच्छित वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते। परन्तु ऐसा नहीं होता है इससे भी यह प्रमाणित होता है कि वाह्य वस्तुओं का मन से स्वतन्त्र आस्तित्व है।

सौतान्त्रिकों के अनुसार वात्य वस्तुओं की ज्ञान से स्वतंत्र सत्ता है। वात्य वस्तुओं के अनेक आकार होने के कारण ही ज्ञान के भिन्न-भिन्न आकार होते हैं। विभिन्न आकार के ज्ञानों से हम उनके कारण स्वरूप विभिन्न वात्य वस्तुओं का अनुमान कर लेते हैं।

सौतान्त्रिकों के अनुसार ज्ञान के चार कारण हैं-

1. आलम्बन
2. समनन्तर
3. अधिपति
4. सहकारी कारण

“ये चत्वारः प्रत्ययाः प्रसिद्धाः आलम्बन-समनन्तर-सहकार्यअधिपति रूपाः।”

सर्वदर्शन संग्रह

1. घट् पर आदि वात्य विषय ज्ञान के आलम्बन कारण है क्योंकि ज्ञान का आकार उसी से उत्पन्न होता है।
2. वस्तु ज्ञान की पूर्ववर्ती चेतना समनन्तर है। समनन्तर के कारण ही पूर्वक्षण के ज्ञान से आकार ग्रहण की शक्ति आती है।
3. विषय और पूर्ववर्ती ज्ञान के रहने पर भी बिना इन्द्रियों के वात्य ज्ञान नहीं हो सकता। किसी विषय का ज्ञान रूप ज्ञान होगा या स्पर्श ज्ञान होगा या अन्य किसी प्रकार का होगा यह बात तो हमारी ज्ञानेन्द्रियों पर ही निर्भर रहती है अतः ज्ञानेन्द्रियों ज्ञान की अधिपति या नियामक कारण कही जाती है।
4. वस्तु इन्द्रिय पूर्ववर्ती मानसिक अवस्था आदि के होने पर भी यदि आवश्यक प्रकाश, आवश्यक दूरत्व, आकार आदि सहायक कारण न हो तो भी ज्ञान की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः ये सभी ज्ञान के सहकारी प्रत्यय कहलाते हैं।

उक्त चार कारणों के बल पर ही हमें वात्य विषयों को अनुमानजन्य ज्ञान होता है।

4.4.10 वैभाषिक या वात्यप्रत्यक्षवाद

इस मत की उत्पत्ति मुख्यतः कश्मीर में हुई थी। यह मत मुख्यतः अभिधर्मग्रन्थ पर निर्भर है। अभिधर्मग्रन्थ पर महाविभाषा या विभाषा नाम की एक

प्रकांड टीका इस मत का मूल अवलम्बन थी इसलिये इस मत का नाम वैभाषिक पड़ा। इस सम्बन्ध में सर्वदर्शन संग्रह में निम्नानुसार विवरण प्राप्त होता है- ‘वैभाषिको का पुराना नाम सर्वास्तिवादी है, क्योंकि ये सबों की सत्ता स्वीकार करते हैं’ बाद में जब कनिष्ठ के समय बौद्धों की चतुर्थ संगीति हुई तो उसमें इस सम्प्रदाय के मूलग्रन्थ आर्य कात्यायनी पुत्र के द्वारा रचित ‘ज्ञानप्रस्थानशास्त्र’ पर एक विराट टीका बनी जो ‘विमाषा’ कहलायी। इसी ग्रन्थ को सबसे अधिक मान्य करने के कारण इस सम्प्रदाय का नाम ‘वैभाषिक’ पड़ा। यशोमित्र ने स्फुटार्थ में लिया है-

वैभाषया दिव्यन्ति चरन्ति वा वैभाषिकः।

विभाषां वा वदन्ति वैभाषिकाः॥

वैभाषिक चित्त तथा वाह्य वस्तु दोनों की सत्ता स्वीकार करते हैं। जहाँ तक वाह्य पदार्थों के ज्ञान का प्रश्न है वैभाषिकों का मानना है कि वस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष को छोड़कर अन्य किसी माध्यम से नहीं हो सकता है। इसीलिये इनके मत को वाह्य प्रत्यक्षवाद भी कहा जाता है। यह सही है कि धूआँ देखकर हम आग का अनुमान करते हैं परन्तु ऐसा इसलिये हो पाता है कि अतीत में हमने धूयें और आग को हमेशा साथ-साथ देखा है अर्थात् व्यक्ति का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया है। परन्तु जिस व्यक्ति ने धूयें और आग को साथ-साथ कभी नहीं देखा है धूआँ देखकर आग का अनुमान कभी नहीं कर सकता। यदि वाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष कभी भी न हुआ रहे तो केवल मानसिक परिस्थिरों के आधार पर उनका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जिसने कभी कोई वाह्य वस्तु नहीं देखी है वह यह नहीं समझ सकता कि कोई मानसिक अवस्था किसी वाह्य वस्तु का प्रतिरूप है।

4.4.11 बौद्ध मत संग्रह

इस स्थल पर विवेच्य शीर्षक का वर्णन ‘सर्वदर्शन संग्रह’ के आधार पर किया जा रहा है-

बौद्धानां सुगतो देवो विश्वं च क्षणभंगुरम्

आर्य सत्याख्यया तत्वं चतुष्टमिदं क्रमात्॥

विवेक विलास में बौद्ध मत का इस प्रकार वर्णन किया गया है-बौद्धों के देवता सुगत (बौद्ध-बुद्ध) हैं संसार क्षण में नष्ट हो जाता है। आर्यसत्य नाम के चार तत्वों को क्रमशः (जानना चाहिये) दुःख, दुःख का स्थान तब समुदाय तथा मार्ग ये सुप्रिसद्व आर्यसत्य नहीं है क्योंकि वे हैं- दुःख, समुदाय, निरोध और मार्ग।

दुःख का अर्थ संसार में रहने वाले प्राणी के स्कन्ध, जो पाँच कहे गये हैं- विज्ञान, वेदना, संज्ञा, संस्कार और रूप।

द्वादश आयतन ये हैं-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (ज्ञान की) शब्दादि पाँच विषय (दूसरे मत में पाँच कर्म की इन्द्रियाँ) मन तथा धर्म का आयतन (निवास स्थान अर्थात्-बुद्धि) जिससे रागादि का समूह मनुष्यों के हृदय में उत्पन्न होता है। आत्मा के अपने स्वभाव के नाम से जो विद्यमान है वही समुदाय है।

“क्षणिकाः सर्वसंस्कारा इति या वासना स्थिरा
स मार्ग इवि विज्ञेयः सच मोक्षेऽमिधीयते।”

सभी संस्कार क्षणिक हैं यह जो स्थिर वासना (विचार) है इसे ही मार्ग जाने, इसे मोक्ष भी कहते हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान-ये केवल दो प्रमाण हैं। वैभाषिक आदि बौद्धों के चार प्रस्थान प्रसिद्ध हैं।

वैभाषिक लोग अर्थ को ज्ञान से युक्त (प्रत्यक्षगम्य) मानते हैं। सौतान्त्रिक वाह्य अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहणीय नहीं लेते (अनुमेय मानते हैं) योगाचार के मत से बुद्धि ही आकार के साथ है माध्यमिक केवल ज्ञान को ही अपने में स्थित मानते हैं। रागादि ज्ञान की परम्पराखणी वासना के नष्ट हो जाने से उत्पन्न मुक्ति चारों प्रकार के बौद्धों के लिये कही गयी है। चर्म, कमण्डलु, मुण्डन, चीर (वस्त्र) पूर्वाहन में (एक बार) भोजन संघ में रहना और लाल (कषाय) वस्त्र धारण करना- बौद्ध मिक्षु इन्हें ही स्वीकार करते हैं।

शब्दावली

आर्यसत्य : महात्मा बुद्ध द्वारा दिये गये उपदेश आर्यसत्य कहलाते हैं। ये संख्या में चार हैं। इसलिये इन्हें चार आर्यसत्य भी कहा जाता है।

भव चक्र : कारणों की वह श्रृंखला जिसके कारण जीव इस संसार में आकार बार-बार जन्म ग्रहण करता है और मृत्यु को प्राप्त होता है।

द्वादश निदान : दुःख के बारह कारण हैं। जो क्रमशः एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। इन्हें द्वादश निदान कहा जाता है।

अविद्या : या अज्ञानता ही दुःख का मूलकारण है। इसी के कारण जीव असार दुःखद तथा अनित्य सांसारिक विषयों को सार रूप, सुखद तथा नित्य मान लेता है। अविद्या का कोई कारण नहीं है। अविद्या का विनाश विद्या के द्वारा ही हो सकता है।

अनात्मवाद : वह सिद्धान्त जिसके अनुसार आत्मा की सत्ता नहीं है।

क्षणिकवाद : इस सिद्धान्त के अनुसार संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। सब कुछ क्षणिक और नाशवान तथा परिवर्तनशील है।

सूची प्रश्न

1. मूल बौद्ध दर्शन में ‘विवाद पराङ्मुखता’ का क्या तात्पर्य है? स्पष्ट कीजियें।
2. प्रथम आर्यसत्य “‘दुःख है” की विवेचन कीजिए।
3. ‘द्वादश निदान’ की व्याख्या कीजियें।
4. महात्मा बुद्ध के अनुसार निर्वाण के स्वरूप पर प्रकाश डालिये।
5. निर्वाण प्राप्ति के साधन के रूप में अष्टांगिक मार्ग की आलोचनात्मक व्याख्या कीजियें।
6. क्षधिकवाद सिद्धान्त की समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
7. बौद्ध ‘अनात्मवाद’ सिद्धान्त पर प्रकाश डालिये।
8. माध्यमिकों द्वारा प्रतिवादित ‘शून्य’ की व्याख्या कीजियें। क्या संसार शून्य है? विवेचना कीजिये।
9. विज्ञानवाद तथा सौतान्त्रिक मत की व्याख्या कीजियें।
10. वैभाषिक सिद्धान्त पर एक निबंध लिखिये।

प्रदत्त कार्य

1. महात्मा बुद्ध के ‘जीवनपरिचय’ का निरूपण कीजिये।
2. ‘सामान्य’ के सम्बन्ध में बौद्ध मत की विवेचन कीजिये।
3. “क्या महात्मा बुद्ध जीवन्मुक्ति को मानते थे? स्वमत के समर्थन में तर्क दीजिये।

4. स्थायी आत्मा के आस्तित्व को अस्वीकार करते हुये भी महात्मा बुद्ध पुनर्जन्म की व्याख्या कैसे करते हैं? बताइये।

उपयोगी ग्रन्थ

NOTES

1. डॉ. उमाशंकर शर्मा ‘ऋषि’- सर्वदर्शनसंग्रहः
2. डॉ. बी.एन. सिंह : भारतीय दर्शन
3. दत्ता एण्ड चटर्जी : भारतीय दर्शन

इकाई की रूपरेखा

NOTES

भूमिका

उद्देश्य

- 4.5.1. वेदान्त सूत्र की विषयवस्तु-अथातोब्रह्म जिज्ञासा
- 4.5.2. विज्ञानवादी बौद्धों का खंडन-विज्ञान आत्मा
- 4.5.3. नैयायिकों की अन्याख्यातिवाद का खण्डन
- 4.5.4. माध्यमिक बौद्धों का खंडन-भ्रमविचार
- 4.5.5. विविध सत्ता तथा अनिर्वचनीय ख्यातिवाद
- 4.5.6. शंकर का जगत् विचार
- 4.5.7. आचार्य शंकर का मायावाद सिद्धान्त
- 4.5.8. आचार्य शंकर ब्रह्म विचार
- 4.5.9. आचार्य रामानुज का 'सृष्टि' विचार
- 4.5.10. मायावाद का खण्डन
- 4.5.11. रामानुज का ब्रह्म विचार-चित्, अचित्, ईश्वर
- 4.5.12. उपासना के पाँच प्रकार एवं मुक्ति

शब्दावली

सूची प्रश्न

प्रदन्त कार्य

उपयोगी ग्रन्थ

भूमिका :

वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति उपनिषदों से हुई है। वेदान्त-जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'वेदों का अंत' प्रारम्भ में इस शब्द से उपनिषदों का बोध होता था। कालान्तर में उपनिषदों के आधार पर जिन विचारों और साहित्य का विकास हुआ उसे भी 'वेदान्त' कहने लगे।

उपनिषदों (उप+नि+सद्) का अर्थ है 'जो ईश्वर के समीप पहुँचावे अथवा जो गुरु के समीप पहुँचावे यह दूसरा अर्थ इस बात से भी मेल खाता है कि उपनिषदों के सिद्धान्त मूँढ़ रखे जाते थे। वे केवल कुछ चुने हुये अधिकारी शिष्यों को ही बताये जाते थे जो गुरु के समीप (उपासन्न) बैठते थे। यहाँ उल्लेखनीय है कि उपनिषदों की रचना एक निश्चित तिथि अथवा स्थान पर नहीं हुयी है बल्कि विभिन्न स्थानों एवं समयों में अनेकों उपनिषदों की रचनायें हुईं। यद्यपि उपनिषदों के मूल प्रतिपाद्य विषय में लगभग एकरूपता है तथापि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जिन प्रश्नों की विवेचना की गयी तथा उनके जो समाधान प्रस्तुत किये गये उनमें विभिन्नता आना स्वाभाविक था अतः कालक्रम से यह आवश्यक होने लगा कि भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो विचार है उनका विरोध परिहार कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाय। बादरायण द्वारा रचित 'ब्रह्म सूत्र' इसी दिशा में किया गया अनूठा सार्थक प्रयास था। इस कालजयी ग्रन्थ को वेदान्त सूत्र, शारीरिक सूत्र, शारीरिक मीमांसा या उत्तर मीमांसा आदि विभिन्न नामों से जाना जाता है।

बादरायण ने ब्रह्म सूत्र के माध्यम से उपनिषदों में न केवल एकवाक्यता स्थापित करने का प्रयास किया है बल्कि ब्रह्मसूत्र में समस्त उपनिषदीय ज्ञान का सार रूप भी प्रस्तुत कर दिया है। यहाँ तक कि वेदान्त के विरुद्ध जो आक्षेप किये गये हैं या किये जा सकते हैं उनका भी समाधान उन्होंने अपने ग्रन्थ रत्न में किया है।

चूँकि वेदान्त सूत्र-सूत्रशैली में निबद्ध है अतः कालान्तर में पुनः दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से वेदान्त सूत्र को देखा, समझा और व्याख्या की। इस व्याख्या में उनका यह भी उद्देश्य रहा कि वे इस तथ्य को पूरी मजबूती के साथ स्थापित कर सकें कि उनकी व्याख्या वेदान्तसूत्र के सबसे नजदीक और सबसे उपयुक्त है परिणाम स्वरूप हर एक भाष्यकार एक-एक वेदान्त सम्प्रदाय का प्रवर्तक बन गया। इस तरह शंकर, रामानुज मध्वाचार्य बल्लभाचार्य, निष्ठार्क आदि के नाम पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय चल पड़े। प्रतिपाद्य की सीमा में बंधे होने के कारण यहाँ हमारा अभीष्ट शंकर और रामानुज द्वारा प्रतिपादित वेदान्त और उनके सिद्धान्तों की व्याख्या करना है।

उद्देश्य :

प्रस्तुत इकाई का उद्देश्य पाठकों को वेदान्त दर्शन के उद्भव उसके प्रारंभिक साहित्य तथा तदुपरि भाष्यकारों के विविध मत तथा उनकी दार्शनिक मान्यतायें के बारे में जानकारी प्रदान करना है। इस इकाई को पढ़ करके आप बादरायण के वेदान्त सूत्र तथा उसके ऊपर भाष्यकारों विशेषकर भारतीय वेदान्त का पर्याय बन चुके शंकर अद्वैत वेदान्त, तथा रामानुज विशिष्टाद्वैत वेदान्त के विभिन्न पहलुओं के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। सर्वप्रथम वेदान्तकार स्वमत की स्थापना हेतु पूर्ववर्ती मतों का खण्डन करता है इस तथ्य के आलोक में सर्वप्रथम नैयायिकों के अन्यथाख्यातिवाद, माध्यमिक बौद्धों के ऋग विचार के साथ विज्ञानवादी बौद्धों के इस मत का खण्डन वर्णित किया जायेगा कि 'विज्ञान ही आत्मा है।' प्रतिपक्षी रूपी पूर्ववर्ती दार्शनिक मान्यताओं का तर्कपूर्ण खण्डन करने के उपरान्त शंकर वेदान्त तथा रामानुज दर्शन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जायेगा। लेखक का उद्देश्य है कि इस इकाई को पढ़कर पाष्ठ अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत दर्शन के विभिन्न तथ्यों को सीधी सरल भाषा में सहजतापूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सके।

4.5.1 वेदान्त सूत्र की विषय वस्तु

NOTES

वेदान्त सूत्र की रचना सूत्रवत् हुई है। इसमें कुल 554 सूत्र हैं। ग्रन्थकार ने विषय की दृष्टि से इन सूत्रों को चार अध्यायों में विभक्त किया है। और विषयानुसार उसके अलग-अलग नाम रखे हैं। प्रत्येक अध्याय का एक-एक प्रतिपाद्य विषय या लक्षण होने के कारण इसे चतुर्लक्षणी कहते हैं। शंकराचार्य ने प्रतिपादित किया है कि भगवान् वादरायण के द्वारा रचित इस वेदान्त शास्त्र का प्रत्येक विषय जीवात्मा और ब्रह्म की एकता का प्रदर्शन करना है। यहाँ उल्लेखनीय है कि पाठकों की सुविधा के लिये वेदान्त सूत्र की विषयवस्तु की व्याख्या पाठ्यक्रमानुसार सर्वदर्शन संग्रह पर आधारित है। प्रथम अध्याय को समन्वयाध्याय कहते हैं। जिसमें सिद्ध किया गया है कि सारे वेदान्त (उपनिषद्) वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म में ही समाहित है। द्वितीय अध्याय अविरोधाध्याय कहलाता है। इस अध्याय में साँख्य आदि दर्शनों के तर्कों से उत्पन्न विरोध का निराकरण किया गया है। अविरोध के उपपादन का प्रयत्न द्वितीय अध्याय में विशेष रूप से किया गया है। इसलिये इस अध्याय को ‘अविरोधाध्याय’ नामकरण किया गया है। तृतीय अध्याय में मोक्ष के साधनभूत वैराग्य आदि का विवेचन किया गया है। इसलिये इसका नाम ‘साधनाध्याय’ है। चतुर्थ अध्याय को फलाध्याय कहते हैं इसमें ब्रह्मविद्या का फल (मोक्ष) निर्दिष्ट है।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार अध्यायों में विभक्त करने के बाद फिर प्रत्येक अध्याय को चार-चार पादों में विभक्त किया है और उनकी रचना में अवान्तर विषयों को समावेश बड़े सुन्दर ढंग से किया है। प्रथम अध्याय के प्रथम के पाद में स्पष्ट रूप से ब्रह्म को बतलाने वाले वाक्यों की मीमांसा हुई है। द्वितीय पाद में ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न करने वाले उपासना विषयक् वाक्यों की मीमांसा है। तृतीय पाद में उसी तरह के (ब्रह्म का स्पष्ट निर्देश न करने वाले) ज्ञेय विषयक् (जीव) वाक्यों की समीक्षा है। चतुर्थ पाद में ‘अव्यक्त’ ‘अजा’ आदि संदिग्ध शब्दों की समीक्षा हुई है। इस पाद में वाक्यों के स्थान पर अज, अजा, अव्यक्त आदि एक-एक पद का समन्वय दिखलाया गया है।

अविरोध का निर्देश करने करने वाले द्वितीय अध्यायन के प्रथम पाद में साँख्य, योग और वैशेषिक आदि स्मृतियों (दर्शनों) के द्वारा किये जाने वाले विरोध का परिहार किया गया है। द्वितीय पाद में साँख्यादि दर्शनों के मतों की दोषात्मकता दिखलाई गयी है। तृतीय पाद में पाँच महाभूतों का वर्णन करने वाली श्रुतियों और जीव विषयक् श्रुति वाक्यों के परस्पर विरोध का निवारण किया गया है। चतुर्थ पाद में लिंग शरीर का वर्णन करने वाली श्रुतियों के विरोध का परिहार किया गया है।

तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में जीव के परलोक जाने या न जाने के प्रश्न पर विचार करके वैराग्य का प्रतिपादन किया गया है। द्वितीय पाद में तत्त्वमसि-त्वम् और तत् पदों के अर्थ का अनुशीलन किया गया है। तृतीय पाद में सगुण ज्ञान के विषय में गुणों का उपसंहार (अर्थात् अन्यत्र प्रतिपादित गुणों का सकलन) किया गया। (जो लोग व्यावहारिक दृष्टि से सगुण की उपासना करते हैं। उनके दृष्टिकोण से उपास्थ के गुणों का यहाँ पर संग्रह किया गया है।) चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्म की विद्या (ज्ञान) प्राप्त करने के लिये बहिरंग और अन्तरंग साधनों-जैसे आश्रम, यज्ञ (बहिरंग) तथा शम (अतंरंग) आदि का निरूपण हुआ है।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम पाद में यह बतलाया गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेने से वह मुक्ति (जीवन्मुक्ति) मिलती है जिसमें पाप, पुण्य और क्लेश का सर्वथा विनाश हो जाता है। द्वितीय पाद में मरण और ऊपर उठने (स्वर्गगमन) के प्रश्न पर विचार किया गया है। तृतीय पाद में सगुण ब्रह्म की उपासना करने वाले पुरुष के मरणोन्तर मार्ग का वर्णन किया गया है। चतुर्थ पाद में निर्गुण ब्रह्मवेन्ता और सगुण ब्रह्मवेन्ता को क्रमशः विदेहमुक्ति और ब्रह्मलोक में अवस्थिति का निरूपण हुआ है।

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा :

वेदान्त सूत्रों में प्रथम सूत्र ‘अथातोब्रह्मा जिज्ञासा’ है। ब्रह्म जिज्ञासा का अर्थ ब्रह्मज्ञान की इच्छा है। ब्रह्मज्ञान के सम्बंध में आचार्य शंकर का मन्तव्य है कि जिस तरह अपने गले में विद्यमान हार किसी भ्रम के कारण विस्मृत और खो गया जैसा प्रतीत होता है और किसी व्यक्ति द्वारा स्मरण दिलाने पर प्राप्त प्रतीत

होता है उसी प्रकार तत्वज्ञान ब्रह्मरूप होने के कारण सदैव प्राप्त है किन्तु अनादि अविद्या के कारण अप्राप्त होकर हमारी जिज्ञासा का विषय बन जाता है।

‘अथातो ब्रह्म जिज्ञासा’ में ‘अथ’, ‘अतः’, ‘ब्रह्म’ और ‘जिज्ञासा’ चार पद प्रयुक्त हुये हैं।

अथ-इनमें ‘अथ’ शब्द की व्याख्या पर विशेष बल दिया गया है। शेष तीन पदों की व्याख्या संक्षेप में ही दी गयी है। संस्कृत साहित्य में ‘अथ’ शब्द पाँच भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। 1. मंगल, 2. अनन्तर, 3. आरंभ, 4. प्रश्न, 5. सम्पूर्णता।

अब यहाँ पर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि महर्षि वादरायण ने ‘अथ’ शब्द का उपर्युक्त अर्थों में से किस अर्थ में प्रयोग किया है? शंकराचार्य अपने भाष्य में ‘अथ’ शब्द के विभिन्न अर्थों पर विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ ‘अथ’ शब्द का अर्थ ‘आनन्दर्थ’ है। आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं कि अथ शब्द का अर्थ यहाँ न तो स्वाध्यायनन्तर्य-धर्मशास्त्र या वेदाध्ययन है और न कर्मावबोधान्तर्य अर्थात् कर्मकाण्डों के परिज्ञान से है। तब अथ शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? किसके अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये उत्तर देते हुये स्वयं आचार्य शंकर कहते हैं ‘साधन चतुष्टय’ के अनन्तर ब्रह्म जिज्ञासा करनी चाहिये। शंकराचार्य के अनुसार साधन चतुष्टय निम्न है-

1. **नित्यानित्यवस्तुविवेक** : जब तक साधक के मन में नित्य वस्तु (ब्रह्म) एवं अनित्य वस्तु (जगत और जागतिक पदार्थ) के बीच अन्तर का ज्ञान नहीं होता वह अनित्य वस्तु का परित्याग कर नित्य वस्तु को प्राप्त करने के लिये उद्यत नहीं हो सकता।

2. **इहामुत्रार्थ भोग-विराग** : ‘इह’ से यहाँ पर तात्पर्य ‘सांसारिक’ से है तथा ‘अमुत्र’ से यहाँ तात्पर्य पारलौकिक से है। इस प्रकार पूरे अर्द्ध वाक्य का अर्थ हुआ सांसारिक सुखभोग एवं पारलौकिक सुख भोग दोनों के प्रति वैराग्य।

3. **शमदमादि साधन संपत्** : शम, दम, उपरति, तितिक्षा, शृद्वा और समाधान इत्यादि छः सम्पाद्तियाँ हैं जिनसे संयुक्त रहने पर ही कोई साधक ब्रह्म जिज्ञासा कर सकता है। शम का अर्थ है इन्द्रिय निग्रह, मन के निग्रह को दम

कहा जाता है। सांसारिक व्यापारों से विरक्त होना उपरति है। हमारे जीवन में भूख-यास, शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि कई प्रकार के द्वन्द्व आते हैं उनसे विचालित न होना तितिक्षा है। गुरु के उपदेशों के प्रति विश्वास की भावना ही शृङ्खा है। समाधि या मन की एकाग्रता ही समाधान है।

4. मुमुक्षत्व : मुमुक्षत्व से तात्पर्य मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा से है। यदि किसी साधक के मन में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा विद्यमान है तो वह धर्म जिज्ञासा के पहले और बाद में भी ब्रह्म जिज्ञासा कर सकता है।

इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार ‘अथ’ शब्द साधन चतुष्टथ सम्पत्ति के आनन्दर्थ का बोधक है।

अतः : अतः शब्द हेत्वर्थक है। क्योंकि वेद ही अग्निक्षेत्रादि स्वर्ग साधकों के फल की अनिव्यता को सूचित करता है। कर्मफल अनित्य है और ज्ञान का फल अर्थात् मोक्ष नित्य है अतः मोक्ष की कामना करने वाले साधकों को वेदान्त वाक्यों का मनन करना चाहिये।

ब्रह्म जिज्ञासा : ब्रह्म पर विचार करना ही ब्रह्म जिज्ञासा है।

जिज्ञासा : ‘ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा’ जानने की इच्छा ही जिज्ञासा है। ब्रह्म ज्ञान विषयक् इच्छा की पूर्णता या समाप्ति ब्रह्म या ईश्वर विषयक् साक्षात्कार में होती है। अतः यहाँ जिज्ञासा पद से ‘अवगतिपर्यन्त ज्ञानम्’ अर्थात् साक्षात्कारात्मक अनुभूति का ग्रहण होता है और उसका विषय या कर्म ब्रह्म है।

4.5.2 विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन : विज्ञान आत्मा का खंडन

विज्ञानवादी बौद्धों के अनुसार चित्त की ही एकमात्र सन्ता है। विज्ञान प्रवाह को ही चित्त कहते हैं। जिस तरह स्वप्न या मतिभ्रम की अवस्था में हम वस्तुओं को बाह्य समझते हैं यद्यपि वे मन के अंतर्गत ही रहती है, उसी तरह साधारण मानसिक अवस्थाओं में भी जो पदार्थ बाह्य प्रतीत होते हैं वे विज्ञानमात्र हैं, विज्ञानवादी मन को आलय विज्ञान कहते हैं क्योंकि वह विभिन्न विज्ञानों को आलय या भडांर है इसमें सभी ज्ञान बीज रूप में निहित है। अतः यह अन्य दर्शनों के आत्मा सदृश है परन्तु अन्य दर्शनों की आत्मा की तरह हम आलय

विज्ञान को अपरिवर्तनशील या नित्य नहीं मान सकते। यह तो परिवर्तनशील चित्तवृत्तियों का प्रवाहमात्र है।

NOTES

आचार्य शंकर उक्त मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि यदि वास्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता तो यह भी नहीं कहा जा सकता था कि आन्तरिक विज्ञान ही वास्य वस्तुओं की तरह दिखलाई पड़ते हैं। कोई भी समझदार व्यक्ति यह कहता हुआ नहीं पाया जा सकता कि विष्णुमित्र, बन्ध्यापुत्र के समान दिखाई पड़ रहा है। आगे अपनी बात को स्पष्ट करते हुये शंकरचार्य कहते हैं विज्ञानवादियों को यह नहीं कहना चाहियें कि आन्तरिक विज्ञान ही वास्य वस्तु की तरह दिखाई पड़ते हैं बल्कि यह कहना चाहिये कि आन्तरिक विज्ञान ही वास्य वस्तु के रूप में दिखाई पड़ती हैं शंकर के अनुसार विज्ञान और वस्तुओं में तादात्स्य सम्बन्ध न होकर कार्य-कारण सम्बन्ध पाया जाता है। बिना वास्य वस्तुओं के विज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान को उत्पन्न करता है अतः वास्य वस्तुओं की कोई आवश्यकता नहीं तो यह ठीक नहीं क्योंकि इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी अतः वास्य वस्तुओं का अभाव नहीं।

यदि वास्य वस्तुओं की उपलब्धि को अस्वीकार किया जाय तो तद्रजन्य वासना की उत्पन्नि भी नहीं हो सकती। आलय विज्ञान को क्षाणिक मानने से वह भी वासना का आश्रय नहीं हो सकता तीनों कालों से सम्बन्ध रखने वाला एक अवदी कूटस्थ आत्मा के न होने पर देश, काल और निमित्त की अपेक्षा से वासना के अधीन स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार नहीं हो सकता।

पुनः यह कहना कि ‘जगत् स्वप्नवत् अलीक हैं’ ठीक नहीं। स्वप्न और जाग्रत अवस्था में भेद स्पष्ट है। स्वप्न का जाग्रत अवस्था में बाध होता है परन्तु जाग्रत अवस्था का बाध नहीं होता अतः दोनों अवस्थाओं में भेद है।

4.5.2 नैयायिकों की अन्यथाख्यातिवाद का खण्डन :

विपर्यय या भ्रम को अयथार्थ ज्ञान (अप्रमा) तो सभी भारतीय दार्शनिक मानते हैं परन्तु भ्रम के स्वरूप और कारण के सम्बन्ध में विवाद हैं। न्याय दर्शन

के अनुसार यथार्थ ज्ञान (प्रमा) अर्थजन्य है क्योंकि -यह वस्तु का यथावत् अनुभव है। परन्तु विपर्यय या भ्रम आत्मगत है। हम किसी वस्तु के स्वरूप को कुछ दूसरा समझ लेते हैं अतः मूल तो हमारी समझदारी में है। हम भ्रमवश ज्ञान के विषय में कुछ धर्मों का आरोप कर देते हैं अतः भ्रम तो अध्यारोप है यथा हम सीपी को चाँदी मान लेते हैं यह भ्रम है। वस्तु में तो कोई दोष नहीं। सूर्य की प्रखर किरणों में सीपी चाँदी जैसी लग रही है। वस्तु तो अपने स्थान पर ज्यों की त्यों हैं। न तो सूर्य की किरणों में दोष है और न सीपी में केवल अन्यथा प्रतीति में दोष है। इस अन्यथाप्रतीति का कारण हमारे नेत्रों में दोष है। नेत्र दोष के कारण हम सामने दीखने वाली वस्तु के सामान्य तथा विशेष धर्म में भेद नहीं कर पाते। सीपी और रजत दोनों का सामान्य धर्म चमकीला होना है। इसी चमकीलेपन से हमें ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष के द्वारा पहले दीखी हुई चाँदी का स्मरण हो आता है। अतः सामने की सीपी के चमकीलेपन का सम्बन्ध चाँदी से हो जाता है। अतः हम इदं का सम्बन्ध रजतम् से जोड़कर सीपी को ‘इदं रजतम्’ कहते हैं। यही भ्रम है।

उक्त उदाहरण और व्याख्या से स्पष्ट है कि ‘एक वस्तु की प्रतीति दूसरे रूप में हो’ यही अन्यथाख्याति है।

आचार्य शंकर नैयायिकों के उक्त मत का खंडन करते हैं। उनका विचार है कि अन्यथाख्यातिवाद सिद्धान्त भ्रम के वर्तमानत्व व एतद्देशविशिष्टत्व की अवहेलना करता है। जब हमें शुक्ति का रजत के रूप में भ्रम होता है तो रजत हमारे समक्ष उपस्थित रहता है। वह अन्य देश और अन्य काल में कहीं स्थित नहीं रहता।

भ्रम का निवारण होने पर जब हम कहते हैं कि “नेदं रजतम्” अर्थात् यह रजत नहीं है यह बाधक ज्ञान केवल एक देश और विशेष काल (वर्तमान) के रजत ज्ञान को ही बाधिक करता है वह किसी अन्य देश और अन्य काल के रजत ज्ञान को बाधित नहीं करता क्योंकि प्रत्यक्ष में रजत के अन्य देश और अन्य काल के सम्बन्ध का हमें कहीं बोध नहीं होता। भ्रम को निराकारण

होने पर हमें केवल यही बोध होता है कि यह रजत नहीं है। हमें यह कदापि बोध नहीं होता कि रजत अन्य देश और अन्य काल में स्थित हैं।

जब शब्द ज्ञान द्वारा किसी व्यक्ति के भ्रम का निवारण होता है तो यह बात और स्पष्ट हो जाती है कि भ्रम में किसी अन्य देश और अन्य काल की वस्तु का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। मान लिया कि एक व्यक्ति है जो भ्रम वश रस्सी को सर्प के रूप में देख रहा है। एक अन्य व्यक्ति जो उस वस्तु के समीप खड़ा है प्रथम व्यक्ति के भ्रम का निवारण करने के लिये कहता है “यह सर्प नहीं है” इस शाब्दिक ज्ञान के द्वारा प्रथम व्यक्ति को उस स्थान पर सर्प के अभाव का ही ज्ञान होता है उसे यह कदापि ज्ञान नहीं होता है कि सर्प का अस्तित्व किसी अन्य देश या काल में है।

यदि नैयापिकों के ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष को स्वीकाकर लिया जाय तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनुमान की प्रक्रिया असम्भव हो जायेगी। ज्यों ही हमें किसी पक्ष में हेतु का प्रत्यक्ष होगा, हम ज्ञानलक्षण प्रत्यक्ष के द्वारा साध्य का प्रत्यक्ष कर लेंगे। फिर अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी।

4.5.4 माध्यमिक बौद्धों का खण्डन-भ्रम विचार :

शून्यवादी बौद्धों का भ्रम विषयक् सिद्धान्त ‘असत्यख्यातिवाद’ कहलाता है। इस मत के अनुसार सभी वस्तुयें तत्त्वतः अभाव रूप ही हैं क्योंकि जो वस्तु न आदि मे है और न अंत मे है वह मध्य में कैसे रह सकती है ?

नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्।

तस्मान्नात्रोपपद्यन्ते पूर्वापर सहक्रमाः।

समस्त सांसारिक पदार्थ न अपनी उत्पत्ति से पूर्व है और न विनाश के पश्चात है अतः आदि और अन्त मे शून्य रूप होने के कारण मध्य में भी वह शून्य रूप ही हैं। वर्तमानत्व भी कुछ नहीं हैं क्योंकि यह भी निर्देश के पहले ‘भविष्यत्’ और निर्देश के पश्चात् ‘अतीत’ होता है। यह वर्तमान होना, भावी होना और अतीत होना भी वस्तुतः कुछ नहीं हैं। सब असत् य शून्य ही हैं।

आचार्य शंकर माध्यमिक बौद्धों के भ्रम विषयक् उक्त मत का निम्न तर्कों द्वारा खंडन करते हैं।

1. भ्रम बन्ध्यापुत्र की तरह बिल्कुल असत् नहीं है। बल्कि रज्जु-सर्प की भाँति यह हमारे ज्ञान का विषय होता है। आचार्य शंकर ने स्वयं कहा है अभाव की उपलब्धि नहीं हो सकती है।
 2. यदि शून्यवादी कहते हैं कि जिस समय भ्रम की प्रतीति होती है उस समय भी वह असत् ही है। इसके उत्तर में वेदान्ती कहते हैं कि उपर्युक्त प्रश्न भाव और सत्ता के भेद को न समझने के कारण हुआ हैं रज्जु-सर्प तात्त्विक तो नहीं है इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भावात्मक भी नहीं है। भावात्मक होने के कारण बन्ध्या पुत्र की भाँति वह पूर्णतया असत् नहीं है।
 3. बौद्ध कहते हैं कि ज्ञान में असत् को प्रकाशित करने की शक्ति है इस पर भामतीकार कहते हैं कि उस शक्ति का शक्य क्या है? अर्थात् उस शक्ति का उपयोग स्थल क्या है? यदि कहा जाय कि असत् ही उनका शक्य है तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि वह असत्-
- (क) इस विज्ञान में रहने वाली शक्ति का कार्य है या
- (ख) विज्ञान का ज्ञात्य है।
- (क) यदि प्रथम विकल्प को स्वीकार किया जाय तो कार्य होने के कारण वह असत् नहीं हो सकता और यदि असत् है तो इसके कारण भूत शक्ति में प्रकाश सामर्थ्य कैसी?
- (ख) इसे ज्ञान द्वारा ज्ञात्य भी नहीं माना जा सकता क्योंकि 'इदं रजतम्' भ्रम के अतिरिक्त कोई अन्य असद्विषयक् भ्रम इस शक्ति से उत्पन्न नहीं होता। ज्ञात्यत्व या प्रकाशत्व का अर्थ है उस शक्ति द्वारा जनित ज्ञान का विषयत्व। जब उस शक्ति द्वारा जन्य ज्ञान से पृथक् कोई विषय है ही नहीं तो ज्ञात्यत्व या प्रकाशत्व का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। यदि कोई दूसरा ज्ञान हो तो उसके प्रकाश के लिये पुनः अन्य ज्ञान की अपेक्षा होने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी।

NOTES

4.5.5 विविध सत्ता तथा अनिर्वचनीयख्यातिवाद

NOTES

आचार्य शंकर सत्ता को तीन कोटियों में विभाजित करते हैं प्राविभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक।

प्राविभासिक सत्ता : वे विषय जो क्षण भर के लिये प्रकार होते हैं परन्तु जाग्रत अवस्था के अनुभवों से बाधित ही जाते हैं। यथा-रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत इत्यादि। क्षण भर के लिये हमें रज्जु सर्प रूप में और शुक्ति रजत रूप में प्रतीत होता है। परन्तु पूर्ण प्रकाश और वस्तु का सामीक्ष्य होते ही प्रतीति का बाध हो जाता है।

सर्वदर्शन संग्रह में विविध सत्ता के सम्बन्ध में निम्नानुसार विवरण प्राप्त होता है-

तात्त्विकं ब्रह्मणः सत्त्वं सोमदिव्यावहारिकम्

रूप्यादेरर्थजातस्य प्रति भासिकमिष्यते।

लौकिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं लौकिकेडवधौ

तत्प्रातिभासिकं सत्त्वं बाह्यं सत्येव मातरि।

वैदिकेन प्रमाणेन यद्बाध्यं वैदिकेडवधौ

तद् त्यावहारिकं सत्त्वं बाध्यं मात्रा सहैव तत्।

अर्थात् ब्रह्म की सत्तातात्त्विक (पारमार्थिक) है, आकाशादि की व्यावहारिक तथा रजत आदि पदार्थों की प्रतिमासिक सत्ता मानी जाती है।

व्यावहारिक सत्ता : वे विषय जो स्वाभाविक जाग्रतावस्था में प्रकट होते हैं। जाग्रत अवस्था में स्वाभाविक रूप से प्रतीति सत्य हैं परन्तु पूर्णतः सत्य नहीं। संसार तथा सांसारिक ज्ञान ब्रह्मात्म ज्ञान के पूर्व सत्य है। यह नाम रूपात्मक जगत तथा दैनिक दृष्टि से सभी लौकिक और वैदिक व्यवहार सत्य हैं। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से इनका बाध हो जाता है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से जगत और जागतिक व्यवहार असत्य सिद्ध होते हैं।

पारमार्थिक सत्ता : यह शुद्ध सत्ता है जो कभी बाधित नहीं होती। यह सर्वदा एकरस, एकरूप रहने वाली सत्ता है। यह त्रिकाल सत् है। पारमार्थिक दृष्टि से केवल ब्रह्म ही सत् है। एकत्र सत् है। नानात्व मिथ्या या माया है। कारण

ही सत् है। कार्य तो केवल विवर्तया आभास है अतः केवल ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है।

शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म सिद्धान्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद कहलाता है। इसके अनुसार अविद्या के कारण ब्रह्म स्थल में एक वस्तु की उत्पत्ति होती हैं तथा उसी अनिर्वचनीय वस्तु की ख्याति भी होती है।

- 1 इस वस्तु को हम सत् नहीं मान सकते क्योंकि अधिष्ठान ज्ञान से इसका बाध हो जाता है। अस्तित्व मात्र से सत् होना उत्पन्न नहीं है।
- 2 इसे पूर्णतया असत् भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि खरगोश की सींग की भाँति पूर्णतया असत् होने पर उसकी प्रतीति भी नहीं हो सकती। जो वस्तु हमारे ज्ञान का विषय बन सकती है, वह पूर्णतया असत् कैसे हो सकती है? वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का भी संसार में कुछ न कुछ अस्तित्व अवश्य होता है। जो असत् है उसका अनुभव करना बिल्कुल असम्भव है।
- 3 ब्रह्म के विषय को सद्सत् भी नहीं कह सकते क्योंकि परस्पर विरोधी होने के कारण सद्सत् की कल्पना ही बदतोध्याधात है।
- 4 अतः हमारे समझ केवल चौथा विकल्प ही शेष रहता है जिसके अनुसार ब्रह्म का विषय न सत् है और न असत् ही है वरन् सद्सत् विलक्षण हैं। सद्सत् विलक्षण होने के कारण ही इसे अनिर्वचनीय कहा जाता है। यह ब्रह्म स्थल में उत्पन्न अनिर्वचनीय वस्तु अज्ञानजन्य अस्थायी सृष्टि है। इस अनिर्वचनीय एवं प्रातिभासिक वस्तु की सृष्टि को माने बिना इसके वर्तमानत्व एवं एतदेशविशिष्टत्व वाले प्रतिभास की व्याख्या संभव नहीं है। आचार्य चित्सुख अपनी रचना चित्सुखी में जगत की अनिर्वचनीयता पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं (विवरण सर्वदर्शन संग्रह से उद्धृत है)

प्रत्येक सदसत्वाम्याम विचारपदवी न यत्!

गाहवे तदनिर्वाच्य माहुर्वेदान्त वादिनः॥

सत् या असत् इनमें प्रत्येक के द्वारा (या समूह के द्वारा भी) जो विचार के योग्य न हो सके उसे वेदान्ती लोग अनिर्वचनीय कहते हैं।

4.5.6 शंकर का जगत विचार

NOTES

आचार्य शंकर अपने तत्त्वमीमांसीय विचारों के सम्बन्ध में स्वयं अपना पक्ष रखते हुये कहते हैं—“सम्पूर्ण वेदों, उपनिषदों, भाष्यों, गीता इत्यादि के गहन अध्ययन के बाद मुझे जो सार प्राप्त हुआ है उसे मैं निम्न अर्द्ध श्लोक में लिखता हूँ—‘ब्रह्म सत्यं, जगत मिथ्या, जीवैः ब्रह्म एव नापरः।।’”

स्पष्ट है आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म सत्य है और यह जगत मिथ्या है। वस्तुत जगत की निरपेक्ष सत्ता नहीं है। सम्पूर्ण जगत ब्रह्म का विवत्र है। जिस प्रकार सर्प रस्सी के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है उसी प्रकार जगत ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देता है और उसके स्वरूप का विक्षेप जगत यथार्थ प्रतीत होने लगता है।

जिस प्रकार एक जादूगर अपनी जादू की प्रवीणता से एक सिक्के को अनेकों सिक्कों के रूप में परिवर्तित कर देता है। अज्ञानी व्यक्ति जिनको उसके जादू का ज्ञान नहीं होता उस जादू के वशीभूत होकर उसे सत्य समझ लेते हैं परन्तु स्वयं जादूगर उससे प्रभावित नहीं होता है उसी प्रकार ब्रह्म अपनी माया के माध्यम से वैचित्यपूर्ण जगत की अद्भुत लीला करते हैं। परन्तु यह केवल ईश्वर के लिये लीला मात्र है। वह अपनी लीला से स्वयं प्रभावित या वैद्य नहीं पाता है परन्तु अज्ञानी जीव परमेश्वर की इस लीला को ही सत्य समझ लेते हैं। ऐसी स्थिति में जादूगर की जादू से मोहित व्यक्ति की भाँति उन्हें ब्रह्म के स्थान पर चाकूचिक्यपूर्ण जगत ही सत्य प्रतीत होता है। माण्डूक्य कारिका में इस सम्बन्ध में निम्नानुसार विवरण प्राप्त होता है-

अनादि मायया सुत्तों यदा जीवः प्रबुध्यते।

अजमनिद्य स्वलमद्वैतं बुध्यते तदा।

विवेक चूड़ामणि के विविध प्रसंगों में आचार्य ने जगत मिथ्यात्व का निरूपण किया है, जिसमें कोई पदार्थ नहीं होता, उस स्वरूप में मन ही अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भोक्ता-भोग्यादि प्रपञ्च रचता है उसी प्रकार जागृति में भी और कोई विशेषता नहीं है अतः यह सब मन का विलासमात्र ही है।

आचार्य शंकर के अनुसार जगत की व्यावहारिक सत्ता है क्योंकि यह स्वप्न की भाँति न तो नितान्त असत्य है और न ब्रह्म की भाँति-कूटस्थ नित्य। जब तक हमें परमसत्ता का ज्ञान नहीं जगत और जागतिक वस्तुयें सत्य प्रतीत होती हैं परन्तु निरपेक्ष सत्ता का ज्ञान होते ही जागतिक वस्तुओं का बाघ हो जाता है। आत्मज्ञान या ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर यह जगत और नाना जागतिक सम्बन्धों का जाल मिथ्या हो जाता है फिर व्यक्ति इनमें मोहित नहीं होता है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि ब्रह्म की माया से किस प्रकार और किस क्रम से जगत के विषयों का आविर्भाव हुआ है वेदान्त ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में एकवाक्यता नहीं पायी जाती है। सबसे प्रचलित मत वह है कि आत्मा या ब्रह्म से पहले पाँच सूक्ष्म भूतों का इस क्रम से अविर्भाव होता है-आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पाचों का पुनः पाँच प्रकार से संयोग होता है जिससे पाँच स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है। जब पाँच सूक्ष्म भूतों का संयोग इस अनुपात से होता है कि आधे में आकाश तत्व और बाकी आधे में शेष चारों तत्व रहते हैं अर्थात् $+1/2$ आकाश+ $1/8$ वायु+ $1/8$ अग्नि+ $1/8$ जल+ $1/8$ पृथ्वी) तब स्थूल आकाश का प्रादुर्भाव होता है। इसी तरह शेष चारों स्थूल भूत भी उत्पन्न होता है। जैसे-स्थूल वायु भूत की उन्पत्ति में सूक्ष्म भूतों का संयोग इस प्रकार होता है- $+1/2$ वायु+ $1/8$ आकाश+ $1/8$ अग्नि+ $1/8$ जल+ $1/8$ पृथ्वी) इस क्रिया को पंजीकरण कहते हैं।

मनुष्य का सूक्ष्म शरीर भूतों से बना है और स्थूल शरीर (तथा अन्यान्य सांसारिक विषय) स्थूल भूतों से (जो पाँच सूक्ष्म तत्वों के संयोग से बनते हैं) आचार्य शंकर सृष्टि के इसी क्रम को मानते हैं। परन्तु वे इस समस्त प्रक्रिया के विवर्त या अध्यास मानते हैं।

4.5.7 आचार्य शंकर का मायावाद सिद्धांत :

शंकराचार्य के दर्शन में माया, अविद्या, अध्यायेप, भ्रान्ति, विवर्त, भ्रम, असक्ति, मूलप्रकृति आदि शब्द एक ही अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होते हैं परन्तु इस सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद हैं। थीबो जैसे विद्वानों के एक वर्ग के अनुसार

शंकर के दर्शन में माया और अविद्या शब्द एक दूसरे के स्थान में प्रयुक्त हो सकते हैं जबकि कर्नल जैकब जैसे विद्वानों की मान्यता है कि शंकर सिद्धान्त में माया शब्द का अविद्या के अर्थ में कही प्रयोग नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में विषय का अनावश्यक विस्तार न हो इस हेतु हम यहाँ लेखकीय अभिमत प्रस्तुत करना चाहते हैं। आचार्य शंकर के दर्शन में माया और अविद्या दोनों शब्द समानार्थी नहीं प्रयुक्त हुये हैं। जिन प्रसंगों में शंकर ने माया शब्द का प्रयोग किया है उनमें यदि माया के स्थान पर अविद्या शब्द का प्रयोग कर दिया जाय तो सम्पूर्ण अर्थ का अनर्थ हो जायेगा। ईश्वर अथवा जगन्नियन्ता को अविद्या का विषय नहीं कहा जा सकता क्योंकि विश्व की रचना और उसका पालन करने के लिए ईश्वर को अतिशय ज्ञान सम्पन्न होना चाहिये। अविद्या की तो बात ही क्या। जो व्यक्ति किसी वस्तु की रचना करता है तो ज्ञान के द्वारा ही करता है अज्ञान के द्वारा नहीं। दूसरी तरफ आचार्य शंकर का कहना है ईश्वर अपनी माया से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता है जैसे जादूगर स्वयं अपनी जादू से। परन्तु अविद्या के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती है। अविद्याग्रस्त व्यक्ति (जीव) के विषय में यह नहीं कहा जा सकता है कि वह व्यक्ति अपनी अविद्या से अप्रभावित है।

शंकराचार्य ने माया की निम्न प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया है।

1. माया ईश्वर की सर्जनात्मक शक्ति है जिसके द्वारा वे वैचित्र्य पूर्ण जगत् की अद्भुत लीला करते हैं।
2. माया ईश्वर से अभिन्न होते हुये भी ईश्वर पर आश्रित है। परन्तु ईश्वर माया पर आश्रित नहीं है।
3. माया अनादि और सान्त है। माया के अनादि कहने का तात्पर्य यह है कि माया ने कब से जीवों को ग्रस्त कर रखा है। इसके विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में हम यह नहीं कह सकते कि हम कब से सो रहे हैं उसी प्रकार जीव कब से माया के वशीभूत है, इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ माया अनादि होते हुये

भी सान्त हैं। जिस क्षण, जिस काल में हमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है, माया का बाध हो जाता है।

ब्रह्म माया का आश्रय और विषय दोनों होते हुये भी माया से प्रभावित नहीं होता था माया के अधीन नहीं रहता।

माया भावरूप है। पर वह सत् नहीं है क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। माया को भावरूप कहने का तात्पर्य यह है कि वह बन्ध्या पुत्र के समान पूर्ण अभाव रूप नहीं है।

शंकरचार्य ने माया की दो शक्तियों का वर्णन किया है-1. आवरण 2. विक्षेप शक्ति। अपनी अवरण शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देती है तथा विक्षेप शक्ति के द्वारा वह अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत को प्रक्षेपित करती है।

साँख्य की प्रकृति के समान माया जड़ रूप है यद्यपि प्रकृति के समान ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है।

माया सदसद्विनिर्वचनीया है। यह सत् नहीं है क्योंकि इसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है यह असत् भी नहीं है क्योंकि यह जगत को प्रक्षेपित करती है। चूँकि यह न तो सत् है और न असत् है अतः सद्सद्विनिर्वचनीया है।

माया मिथ्या है क्योंकि विज्ञान के द्वारा इसका निराकरण किया जा सकता है। ज्यों ही हमें ब्रह्म या अधिष्ठान का ज्ञान प्राप्त हो जाता है माया अदृश्य हो जाती है। माया अध्यास रूप है। इसके द्वारा हमें एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आभास होता है।

4.5.8 आचार्य शंकर का ब्रह्म विचार :

एक तत्त्ववादी होने के कारण आचार्य शंकर एकमात्र ब्रह्म को ही निरपेक्ष सत्ता स्वीकार करते हैं। इस निरपेक्ष सत्ता का विचार दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है-

1. व्यावहारिक दृष्टिकोण
2. पारमार्थिक दृष्टिकोण

व्यावहारिक दृष्टिकोण से जगत् तथा दैनिक व्यवहार में आने वाली जागतिक वस्तुयें सत्य मानी जाती हैं इस दृष्टि विशेष से ब्रह्म को जगत् का मूलकारण सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक स्वीकार किया जाता है। “यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।” जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन्पन्न होकर जीविक रहते हैं और विनष्ट होते समय जिसमें विलीन हो जाते हैं वही ब्रह्म है।

परन्तु उपर्युक्त लक्षणों सा विशेषताओं के माध्यम से ब्रह्म का वास्तविक लक्षण निरूपण नहीं किया जा सकता। जगत् कर्त्तव्य ब्रह्म का औपाधिक या तटस्थ लक्षण है। जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में रहे और वस्तु को लखाये उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं और जो लक्षण वस्तु के स्वरूप से अलग रहे और फिर भी वस्तुओं को लखाये उसे तटस्थ लक्षण कहते हैं। यह जो जगत् के जन्मादि का कारण रूप ब्रह्म का लक्षण ‘जन्माद्यस्य यतः’ से बताया जा रहा है वह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

वस्तुतः: तटस्थ लक्षण का सम्बन्ध वस्तु की विशेषता या धर्म से नहीं होता है किन्तु वे अन्य वस्तुओं से उसकी भिन्नता बताते हैं। मकान पर बैठा हुआ कौआ उस मकान का संकेत करने में सहायक हो सकता है किन्तु कौआ सदा मकान पर बैठा नहीं रहता है और न वह मकान का अभिन्न लक्षण है। अतः कैये को मकान का केवल तटस्थ लक्षण कह सकते हैं। आचार्य शंकर इस सगुण ब्रह्म को सगुण, सविशेष और अपर ब्रह्म भी कहते हैं। ब्रह्म के स्वरूप लक्षण का वर्णन करते हुये कहा जा सकता है कि “स्वरूपान्तर भूतत्वे सवि अन्य व्यावर्तकं स्परूप लक्षणम्” जो वस्तु के स्वरूप के अन्तर्गत आ जाता हो और अन्यों से भेद करने वाला हो उसको स्वरूप लक्षण कहते हैं जैसे-सच्चिदानन्द ब्रह्म। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर सत्, चित्, और आनंदस्वरूप है। परन्तु इस लक्षण को भी ब्रह्म का परम लक्षण नहीं माना जा सकता है। यह केवल इतना ही संकेत देता है कि ब्रह्म का स्वरूप असत् अज्ञान और अचेतन नहीं है।

एक दूसरे दृष्टिकोण से शंकर ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से रहित विश्वातीत परब्रह्म कहते हैं। इस परब्रह्म को निर्गुण भी कहा जाता

है। यह नित्य, कूटस्थ एकमेव, भेदरहित, अग्राह्य, गुणातीत है। यह सब प्रकार के परिवर्तन से रहित पूर्णतः अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला है।

ब्रह्म को निर्गुण कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह शून्य है या उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार किया जाता है। वस्तुतः जो कुछ भी अस्तित्ववान् दिखाई देता है वह सब स्वयं ब्रह्म का ही अस्तित्व है। अतः वह सदा सर्वदा वाणी से परे है। ब्रह्म अनिर्वचनीय है। वस्तुतः हम यह जान ही नहीं सकते कि ब्रह्म क्या है अपितु हम यह जान पाते हैं कि ब्रह्म क्या नहीं है। अपूर्ण मनुष्य के लिये परम तत्व को जानना कठिन ही नहीं वरन् असंभव है। ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का अर्थ यह नहीं कि वह अज्ञेय है। ब्रह्म साक्षात् अनुभूति का विषय है। अजर, अमर, आभास, शून्य, वस्तु स्वरूप, निश्चल जलराशि के समान, नामरूप से रहित, गुणों के विकार से शून्य, नित्य, शान्तस्वरूप और अद्वितीय पूर्व ब्रह्म का विद्धान समाधि अवस्था में हृदय में साक्षात् अनुभव करते हैं।

उल्लेखनीय है कि सगुण और निर्गुण ब्रह्म वर्णन की दृष्टिकोण से दो होते हुये भी वस्तुतः एक ही है। एक रूप में वह उपाधियों से विभूषित है और हमारा आराध्य है दूसरे रूप में वह सब प्रकार की उपाधियों से परे और अज्ञेय है।

4.5.9 आचार्य रामानुज का सृष्टि विचार :

सृष्टि विचार के सम्बन्ध में आचार्य रामानुज शंकर से सर्वथा भिन्न मत रखते हैं। जहाँ आचार्य शंकर जगत् को मिथ्या, माया या अम समझते हैं वही रामानुज जगत् को ईश्वर द्वारा सृष्टि होने के कारण सत्य मानते हैं। रामानुज के अनुसार सर्वशक्तिमान् ईश्वर अपनी इच्छा से, स्वयं अपने से नाना विषयात्मक संसार की रचना करते हैं सर्वव्यापी ब्रह्म में चित् और अचित् (जड़) ये दो तत्व विद्यापन रहते हैं। अचित् प्रकृति तत्व है जिससे सभी भौतिक विषय उत्पन्न होते हैं। आचार्य रामानुज प्रकृति को ईश्वर का अंश और ईश्वर के द्वारा संचालित मानते हैं प्रलय की अवस्था में यह प्रकृति सूक्ष्म अविमक्त रूप में रहती है। उसी बीज से ईश्वर जीवात्माओं का स्वर्कर्मानुसार नाना विषयात्मक संसार की रचना करते हैं। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की इच्छा से अविभक्त सूक्ष्म प्रकृति क्रमशः तीन

प्रकार के तत्वों में विभाजित हो जाती है तेज, जल और पृथ्वी। रामानुज का सृष्टिविषयक् यह सिद्धान्त विवृत्त करण कहलाता है। धीर-धीर ये तीनों तत्व परस्पर सम्बिलित हो जाते हैं और उनसे समस्त स्थूल विषयों की उत्पत्ति होती है। जो भौतिक में दृष्टिगोचर होते हैं। संसार के प्रत्येक विषय में तीनों गुणों का साम्मिश्रण है।

रामानुज का मत है कि सृष्टि वास्तविक है और जगत उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। यह ब्रह्मांड चौदह भुवनों से बना है जो प्रकृति, पुरुष, महत, अहंकार, तन्मात्रों, भूतों तथा इन्द्रियों के साथ-साथ है। उस (ब्रह्मांड) के अन्तर्गत देवता, पशु, मनुष्य, स्यावर आदि सभी प्रकार के (पदार्थ अपने-अपने) संस्थानों से युक्त होकर अवस्थित हैं। ये सब के सब कार्य के रूप में हैं फिर भी ब्रह्म ही है (क्योंकि ब्रह्म के शरीर से ही ये सब पदार्थ निकले हुये हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न यह पैदा होता है कि जगत को सत्य मानने से इनका विनाश सम्भव नहीं होगा और प्रलय की सिद्धी नहीं होगी। इस समस्या का समाधान रामानुज कैसे करते हैं? उत्तर सर्वदर्शन संग्रह से। जिसमें नाम Name और रूप Form का निश्चय नहीं हो सके ऐसी सूक्ष्मावस्था में रहने वाला प्रकृति-पुरुष के शरीर के रूप में अवस्थित ब्रह्म कारणावस्था में है जब संसार अपने इसी रूप में लौट आता है तब उसे प्रलय (Dissolution) कहते हैं। नाम और रूप के विभागों से मालुम होने वाला स्थूल चित और अचित् वस्तुओं का शरीर लिये हुये ब्रह्म कार्यवस्था में स्थित है जब ब्रह्म इस प्रकार के स्थूल रूप में आ जाता है तब उसे सृष्टि कहते हैं।

4.5.10 मायावाद का खण्डन :

आचार्य रामानुज शंकर के मायावाद सिद्धान्त से असहमति है वे मायावाद सिद्धान्त से न केवल अपनी असहमति ही व्यक्त करते हैं बल्कि उसका बुरी तरह से तार्किक खंडन भी करते हैं। आचार्य रामानुज के अनुसार माया ईश्वर की वास्तविक शक्ति है जिसके द्वारा वह इस भौतिक जगत का निर्माण करता है। अविद्या से उनका तात्पर्य मनुष्य के उस अज्ञान से है जिसके द्वारा वह स्वयं की

भौतिक वस्तुओं, शरीर, इन्द्रियों या मन के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित कर लेता है।

आचार्य रामानुज निम्नलिखित तर्कों के माध्यम से शंकर के मायावाद का खंडन करते हैं-

NOTES

1. यदि माया नाम की कोई वस्तु है तो उसका कोई आश्रय होना चाहिये। ब्रह्म तो उसका आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म चैतन्य स्वरूप है साथ ही वह अद्वैत रूप भी है। जीव भी माया का आश्रय नहीं हो सकता क्योंकि जीव स्वयं माया की सृष्टि है अतः माया का आश्रय न तो ब्रह्म है और न जीव वस्तुतः सच तो यह है कि माया का कोई आश्रय नहीं है। यह शंकरचार्य की कल्पना मात्र है। माया का कोई अस्तित्व नहीं है।
2. शकराचार्य और उनके मतानुयायिकों का कहना है कि माया ब्रह्म के स्वरूप को आच्छादित कर देती है। पर यदि ब्रह्म चैतन्य और प्रकाश स्वरूप है तो माया इसके स्वरूप को कैसे ढक सकती है। जिस प्रकार अन्धकार, प्रकाश को आच्छादित नहीं कर सकता उसी प्रकार माया भी प्रकाशरूप ब्रह्म को आच्छादित नहीं कर सकती।
3. यदि माया का अस्तित्व है तो उसका स्वरूप क्या है? क्या वह भावरूप है, या आभाव रूप है या दोनों हैं या दोनों में से एक भी नहीं है? यदि माया भावरूप है तो उसे अविद्या कैसे कहा जा सकता है? दूसरे यदि माया भाव रूप है तो इसका विनाश कैसे किया जा सकता है। किसी भी भाव का विनाश नहीं किया जा सकता। यदि माया अभाव रूप है तो ब्रह्म को विषय बनाकर वह नाना रूपात्मक जगत् को कैसे प्रक्षेपित कर सकती है? यह कहना कि माया भाव और अभाव रूप दोनों हैं स्पष्ट बदतोव्याधात है। अंत में यह कहना कि माया न तो भावरूप है और न अभाव रूप है, सम्पूर्ण चिन्तन को तिलांजलि दे देना है।

4. अद्वैत वेदान्ती माया को अनिर्वचनीय मानते हैं। एक ओर उसका निर्वचन करना और दूसरी तरफ उसे अनिर्वचनीय कहना स्पष्टतः आत्मव्यधातक कल्पना है। यदि यह कहा जाय कि जब वेदान्ती माया को अनिर्वचनीय मानते हैं तो इससे उनका तात्पर्य यह होता है कि माया न सत् है और न असत् है। इस मत के विरुद्ध रामानुज कहते हैं कि सत् और असत् के बीच संसार की सभी वस्तुयें समाहित हो जाती हैं। यदि माया न सत् है और न असत् है तो इसका अर्थ यह है कि संसार में माया के लिये कोई स्थान नहीं है। यह कोरी कल्पना है।
5. यदि माया नाम की कोई सत्ता है उसे हम किस प्रमाण से जान सकते हैं? प्रत्यक्ष द्वारा तो इसे जाना नहीं जा सकता क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा या तो भावात्मक वस्तु का ज्ञान होता है। अथवा अभावात्मक वस्तु का ज्ञान होता है। माया न तो भावात्मक है और न अभावात्मक माया को अनुमान द्वारा भी नहीं जाना जा सकता क्योंकि माया का कोई वैद्य लिंग नहीं है। श्रुति के आधार पर भी माया को नहीं जाना जा सकता क्योंकि श्रुति या तो इस विषय में मौन हैं या माया को ईश्वर की वास्तविक शक्ति के रूप में स्वीकार करती है। इससे स्पष्ट है कि हम माया को किसी प्रमाण से नहीं जान सकते। उसका कोई अस्तित्व नहीं है।
6. अद्वैत वेदान्ती यह भी मानते हैं कि निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने के उपरान्त माया या अविद्या की निवृत्ति हो जाती है पर रामानुज कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान असम्भव है ज्ञान सदा किसी सविशेष वस्तु का ही होता है। ज्ञान के लिये अभेद के साथ भेद का होना नितान्त आवश्यक है। किसी निर्गुण वस्तु का जिसमें गुण या भेद का अभाव हो, ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में अविद्या का विनाश असम्भव है।

7. सच तो यह है कि अविद्या की निवृत्ति ही नहीं हो सकती। वेदान्तियों के अनुसार माया भावरूप है। जो वस्तु भाव रूप होती है उसकी निवृत्ति कैसे की जा सकती है? किसी भाव रूप वस्तु का ज्ञान द्वारा निराकरण नहीं किया जा सकता। जीवों का बन्धन कर्म संस्कार द्वारा होता है जो एक वास्तविक चीज़ है। अमूर्त ज्ञान द्वारा इसका निराकरण नहीं किया जा सकता। कर्म-ज्ञान-भक्ति और ईश्वरीय प्रसाद के द्वारा ही दूर किया जा सकता है।

4.5.11 रामानुज का ब्रह्म विचार : चित्, अचित् और ईश्वर सम्बन्धी विचार

रामानुज के अनुसार ब्रह्म चित् (जीव) और अचित् (जड़ प्रकृति) दोनों तत्वों से युक्त है। वह एकमात्र सत्ता है अर्थात् उससे प्रथक या स्वतन्त्र किसी वस्तु की सत्ता नहीं है, परन्तु उसमें जो जीव और प्रकृति है सो भी वास्तविक है। रामानुज का अद्वैतवाद विशिष्टद्वैत वाद कहलाता है क्योंकि उनके अनुसार चित् और उचित् अंशों से विशिष्ट होते हुये भी ब्रह्म एक ही है।

ईश्वर एक अद्वैत रूप है परमतत्व है परन्तु चित् और अचित् तत्व भी ईश्वर के अतिरिक्त तत्व है। यहाँ एक प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि परमतत्व (ईश्वर) एक है तो अन्य तत्वों को मानने की क्या आवश्यकता है पुनः यदि अन्य तत्व भी हैं तो ईश्वर परमतत्व के रूप में एक अद्वैत रूप कैसे है? रामानुजाचार्य के अनुसार परमतत्व (ईश्वर) तो एक अद्वैतरूप है। उसके समान कोई अन्य तत्व नहीं अतः अपने आप एक ही होने के कारण अद्वैत है परन्तु चित् और अचित् (चेतन और अचेतन) दोनों तत्व हैं परन्तु परतन्त्र तत्व है, स्वतंत्र नहीं। चित् और अचित् ईश्वर के विशेषण हैं। अर्थात् चित् और अचित् विशेषणों से ईश्वर विशिष्ट है। इसीलिये ईश्वर को चिद्चिद्विशिष्ट कहा गया है। चित् और अचित् का ईश्वर के साथ अपृथक सम्बन्ध माना गया है। ईश्वर इनका सृष्टा नहीं। चित् और अचित् अवयव हैं। ईश्वर अवयवी है। अब यहाँ पुनः प्रश्न पैदा होता है कि एक ही स्वतन्त्र ईश्वर को माना जाय, चित्-अचित् आदि परमतत्वों को मानने

की क्या आवश्यकता है? रामानुज के अनुसार ईश्वर सृष्टिकर्ता है। सृष्टि करने में उसे चित्र और अचित्र दोनों तत्वों की आवश्यकता पड़ती है चित्र और अचित्र दोनों उपकारण है जिनके सहारे ही ईश्वर सृष्टि करता है। सृष्टिकर्ता होने से ईश्वर संगुण कहलाता है।

रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्म की दो अवस्थायें हैं-कारणावस्था और कार्यवस्था। कारण अवस्था सूक्ष्म और अविकृत अवस्था है। इस अवस्था में चित्र और अचित्र नाम रूप से विहीन होकर शुद्ध अविकृत अवस्था में निवास करते हैं। यह प्रलय की अवस्था है। दूसरी अवस्था कार्यावस्था है। यह सृष्टि की अवस्था हैं। इसमें चित्र और अचित्र शरीरधारी हो संसार में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीव और जड़ जगत की पहली अवस्था सूक्ष्म और कारण अवस्था है। यही ब्रह्म की अव्यक्त प्रकृति है। जब अव्यक्त प्रकृति व्यक्त होती है तो जीव और जड़ शरीरधारी बन जाते हैं। इस प्रकार नाना रूपात्मक जगत की सृष्टि प्रारंभ हो जाती है जब जीव और जड़ शरीरधारी हो जाता है तो ब्रह्म भी सृष्टा (ईश्वर) बन जाता है। अतः ब्रह्म एक ही है। अपनी अव्यक्त अवस्था में वह कारण ब्रह्म है और व्यक्त अवस्था में कार्य ब्रह्म।

ईश्वर का निरूपण और उनकी पाँच भूतियाँ :

प्रस्तुत प्रतिपाद्य का विवेचन सर्वदर्शन संग्रह के आधार पर किया जा रहा है।

वासुदेवः परं ब्रह्म कल्याण गुण संयुतः

भुवनानामुपादानं कर्ता जीवनियामकः॥

जगत का रचयिता और उपादान कारण भी (प्रकृति के रूप में सूक्ष्मशरीरधारी) पुरुषोत्तम (परमात्मा) है जो ईश्वर शब्द का अर्थ है तथा जिसे वासुदेव आदि शब्दों के द्वारा जानते हैं। यह भी कहा गया है। कल्याणकारी गुणों से भरे हुये वासुदेव ही पर ब्रह्म वे भुवनों के उपादान कारण है निर्माता है तथा जीवों के नियामक हैं।

वे ही वासुदेव सबसे अधिक दयालु, भक्तो से वात्सल्य प्रेम रखने वाले तथा सर्वोच्च पुरुष हैं, अपने उपासकों के गुण के अनुसार विभिन्न फल देने के

लिये अपनी लीला दिखलाते हुये वे अची, विभव, व्यूह, सूक्ष्म तथा अन्तर्यामी इन भेदों के कारण पाँच रूप में अवस्थित रहते हैं।

तवाची नाम प्रतिमादयः। रामाद्यवतारें विभवः।

व्यूहश्चतुर्विधो वासुदेव संकर्षणप्रद्युम्नानिस्तद्ध संज्ञकः।

NOTES

अर्चा : प्रतिभा आदि को कहते हैं। घर में या देवमन्दिर में चौराहे पर या खेत में देवता के रूप में पूजित-प्रतिष्ठित पत्थर, धातु आदि की मूर्तियों को अर्चा कहते हैं। यह भी ईश्वर का ही एक रूप है। इन प्रतिमाओं को सूक्ष्म और दिव्य शरीरयुक्त परमात्मा अपना शरीर बना लेता है। कहीं-कहीं अचयि स्वयं प्रकट होती हैं कहीं देवताओं, मनुष्यों या सिद्ध पुरुषों के द्वारा स्थापित होती हैं।

विभव : राम आदि के रूप में अवतार को कहते हैं। विभव दो तरह का होता है मुख्य और गौण। मुख्य विभव वह है जब परमात्मा स्वेच्छा से विशेष भक्तों पर अनुग्रह करने के लिये साक्षात् प्रकाट होते हैं। गौण विभव में आवेश के रूप में अवतार होता है जीवाधिष्ठित शरीर में कोई विशेष कार्य सिद्ध करने के लिये परमात्मा अपने रूप से या शक्ति से प्रविष्ट हो जाता है। परशुराम आदि में स्वरूप से ही आवेश होता मत्स्य, कर्म आदि दस अवतार विभव ही हैं।

व्यूह : चार प्रकार का है- वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिस्तद्ध। उपासना करने के लिये तथा संसार की सृष्टि आदि के लिये परमात्मा ही चार प्रकारों से अवस्थित हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य आदि उपयुक्त छह गुणों से वासुदेव पूर्ण है। ज्ञान और बल से युक्त संकर्षण होते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य और वीर्य से युक्त है और अनिस्तद्ध में शक्ति तथा तेज है। संकर्षण का कार्य है शास्त्र का प्रवर्तन करना और संहार। प्रद्युम्न धर्म प्रचार और सृष्टि करते हैं अनिस्तद्ध तत्व निरूपण और रक्षण के अधिकारी हैं। कभी-कभी आद्य व्यूह में (श्री वासुदेव) छहों गुण देखकर दूसरे व्यूहों से अभेद बतलाकर तीन व्यूहों का ही प्रतिपादन किया जाता है।

सूक्ष्म : छहों गुणों से परिपूर्ण वासुदेव नाम के परब्रह्म को कहते हैं। गुणों से अभिप्राय है जिसके पाप नष्ट हो गये हैं इत्यादि।

अन्तर्यामी : ये सभी जीवों का नियमन करते हैं। इनमें हरेक पहली मूर्ति की उपासना से पुरुषार्थ में बाधा पहुँचाने वाले पापों के समूह का नाश हो जाता

है। और तब भक्त को हर दूसरी मूर्ति की उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। (अर्चा के बाद ही विभव की उपासना हो सकती है और तब ही व्यूह की-इस क्रम से उपासना का अधिकार प्राप्त होता है। एक-एक मूर्ति की उपासना से कुछ न कुछ पाप कट ही जाते हैं।

4.5.12 उपासना के पाँच प्रकार और मुक्ति :

रामानुज भक्त दार्शनिक है। इनके अनुसार सर्वोच्च मुक्ति तो परमात्मा की प्राप्ति है। परमात्मा की प्राप्ति भक्ति से ही संभव है। वास्तव में रामानुज भक्ति का अर्थ एक व्यापक सन्दर्भ में ग्रहण करते हैं। यहाँ भक्ति का तात्पर्य भक्ति सहित ज्ञान है।

वास्तव में भक्ति भगवान के प्रति निश्छल प्रेम है। ऐसी भक्ति तभी प्राप्त हो सकती है जब साधक शुद्ध चित्त हो। चित्त विशुद्ध तभी हो सकता है। जब सांसरिक विषयों के प्रति अनास्था और ईश्वर में अनास्था हो। परन्तु बिना शुद्ध ज्ञान के सांसारिक विषयों में अनास्था हो ही नहीं सकती। उपनिषदों का कहना है कि ज्ञान से ही मुक्ति मिल सकती है परन्तु यहाँ ज्ञान का अर्थ श्रुति का कोरा शब्द ज्ञान नहीं है। यदि सो होता तो वेदान्त पढ़ लेने के साथ ही लोग तुरन्त मुक्त हो जाते। यथार्थ ज्ञान ईश्वर की ध्रुव स्मृति या निरन्तर स्मरण को कहते हैं यही ध्यान या भक्ति है और यही मोक्ष प्रदायक है। भक्ति, ईश्वर के प्रति शुद्ध प्रेम है भगवान का ध्यान और उनकी उपासना है।

विशिष्टद्वैत वेदान्त में उपासना के पाँच प्रकारों को वर्णन प्राप्त होता है जिसका विवेचन “सर्वदर्शन संग्रह” के आधार पर निम्नानुसार है-अभिगमन, उपासना, इज्या, स्वाध्याय, और योग। देवमन्दिर या देवस्थान के रास्ते को साफ करना या लीपना अभिगमन है। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा की सामग्रियों को एकत्र करना उपादान है। देवता की पूजा करना इज्या है। अर्थ पर ध्यान रखते हुये मन्त्रों का जय करना, वैष्णव सूक्तों और स्त्रोतों को पाठ करना, नाम का कीर्तन करना तथा तत्व का प्रतिपादन करने वाले नाम का कीर्तन करना

विशिष्टाद्वैत वेदान्त में उपासना के पॉच प्रकारों का वर्णन प्राप्त होता है जिसका विवेचन “सर्वदर्शन संग्रह” के आधार पर निम्नानुसार है। उस (ईश्वर) की उपासना पॉच प्रकार की होती है। अभिगमन, उपासना, इज्या, स्वाध्याय और योग। देवमन्दिर या देवस्थान के रास्ते को साफ करना या लीपना अभिगमन है। गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजा की सामाग्रियों को एकत्र करना उपादान है। देवता की पूजा करना इज्या है। अर्थ पर ध्यान रखते हुये मन्त्रों का जप करना, वैष्णव सूक्तों और स्त्रोतों का पाठ करना, नाम का कीर्तन करना तथा तत्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का अभ्यास करना स्वाध्याय कहलाता है। देवता का ध्यान करना योग है।

इस प्रकार उपासना रूपी कर्म से परिपूर्ण (अन्तर्यामी के) ज्ञान से जब (द्रष्टा का) अपने कर्मों को देखना समाप्त हो जाता है तब ईश्वर में निष्ठा रखने वाले भगवान के भक्त को भक्त वत्सल, परम दयालु पुरुषोत्तम अपना वह पद देते हैं। जिसमें ईश्वर के यथार्थ रूप का अनुभव करने के अनुरूप अपरिमित आनंद प्राप्त होता है और जहाँ से फिर आवृत्ति (Return) नहीं होती है।

“मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्
नान्जुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ।
स्वभक्त वासुदेवोपि सम्प्रत्यानन्द मक्षयम्
पुनरावृत्ति रहितं स्वीयं धाम प्रयच्छति ॥

मुझे पाकर महात्मा लोग पुनर्जन्म रूपी अस्थिर दुःख भण्डार में प्रवेश नहीं करते हैं। वे सबसे ऊँची सिद्धि पा लेते हैं।

वासुदेव भी अपने भक्त को पाकर अक्षय आनन्द के रूप में अपना स्थान प्रदान करते हैं जहाँ से फिर लौटकर आना नहीं है।

शब्दावली

एक पक्षीय आश्रितत्व— माया ब्रह्म के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित है पर ब्रह्म माया से पूर्ण स्वतन्त्र है। इसे एक पक्षीय आश्रितत्व की संज्ञा दी जाती है।

माया अनादि है— इसका तात्पर्य यह है कि माया ने कब से जीवों को ग्रस्त कर रखा है इसके विषय में हम कुछ भी नहीं कह सकते।

आवरण शक्ति और विक्षेप शक्ति— अपनी आवरण शक्ति के द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप पर पर्दा डाल देती है और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत् को प्रक्षेपित करती है।

ब्रह्म जिज्ञासा— ब्रह्म के स्वरूप प्रकार तथा उसकी प्राप्ति के उपाय आदि के बारे में जानने की इच्छा की ब्रह्म जिज्ञासा कहलाती है।

वेदान्त— वैदिक विचारधारा का चरम विकास जिस साहित्य में पाया जाता है उसे वेदान्त कहते हैं।

अपरिमित— जिसकी कोई सीमा न हो।

आवृत्ति— दुष्कारा होना या लौट कर आना।

सूची प्रश्न

- प्रश्न सं0-1 'वेदान्त सूत्र' ग्रन्थ का परिचय देते हुये इसके विषय वस्तु पर प्रकाश डालिये।
- प्रश्न सं0-2 आचार्य शंकर ने विज्ञानवादी बौद्धों के मत 'विज्ञान ही आत्मा है' का किस प्रकार से खंडन किया है ? वर्णन कीजिये।
- प्रश्न सं0-3 नैयायिकों के भ्रम सिद्धान्त का आचार्य शंकर द्वारा किये गये खण्डन की समीक्षा कीजिये।
- प्रश्न सं0-4 आचार्य शंकर के त्रिविध सत्ता विषयक सिद्धान्त की विवेचना कीजिये। जगत् की सत्ता किस कोटि में आती है? उदाहरण सहित समझाइये।
- प्रश्न सं0-5 अद्वैत वेदान्त में वर्णित जगत् विचार पर एक निबंध लिखिये।
- प्रश्न सं0-6 आचार्य शंकर माया के माध्यम से जगत् की सृष्टि कैसे करते हैं ? विवेचना कीजिए।
- प्रश्न सं0-7 शंकर के मायावाद की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करते हुये इस सम्बन्ध में रामानुज की आपत्तियों का निरूपण कीजिये।

प्रश्न सं0—8 शंकराचार्य के 'ब्रह्म विचार' का निरूपण कीजिये।

प्रश्न सं0—9 आचार्य रामानुज के 'सृष्टि विचार' की व्याख्या कीजिये।

प्रश्न सं0—10 रामानुज के अनुसार चित् अचित् क्या है ? और इसका ब्रह्म से सम्बन्ध का निरूपण कीजिये।

प्रदत्त कार्य

प्रश्न सं0—1 भारतीय दर्शन में वर्णित प्रमुख भ्रम विचारों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिये।

प्रश्न सं0—2 मायावाद सिद्धान्त की प्रमुख विशेषतायें बताइये। क्या शंकर माया के माध्यम से जगत् की सच्ची व्याख्या कर पाते हैं ? स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न सं0—3 अपने पूर्ववर्ती विचारों का निर्ममतापूर्वक खंडन करने के उपरान्त ही शंकर अपने मत की स्थापना करते हैं। शंकर द्वारा प्रतिपादित भ्रम सिद्धान्त के सम्बन्ध में इस तथ्य की विवेचना कीजिये।

प्रश्न सं0—4 "ज्ञानोत्तर भक्ति असंभव है" शंकर के इस विचार को स्पष्ट कीजिये।

प्रश्न सं0—5 आचार्य शंकर के दर्शन के आधार पर ब्रह्म, ईश्वर, और जीव के स्वरूप की व्याख्या करते हुये इनके आपसी सम्बन्ध का निरूपण कीजिये।

प्रश्न सं0—6 दार्शनिक जगत् को रामानुज के योगदान का मूल्यांकन कीजिये।

प्रश्न सं0—7 भक्ति और प्रपत्ति के माध्यम से ही ईश्वर की प्राप्ति की जा सकती है। रामानुज के इस विचार का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये।

उपयोगी ग्रन्थ

NOTES

(1)

सर्वदर्शन संग्रहः भाष्यकार डॉ० उमाशंकर 'शर्मा' चौखम्मा विद्या भवन वाराणसी।

(2)

अद्वैत वैदान्त की तार्किक भूमिका— डॉ० जगदीश सहाय श्रीवास्तव, किताब
महल, इलाहाबाद।

(3)

समकालिक अद्वैत चिन्तन— डॉ० जितेन्द्र शर्मा।